विमल दीप

वर्ष—१ मार्च—१९८९ अंक—३

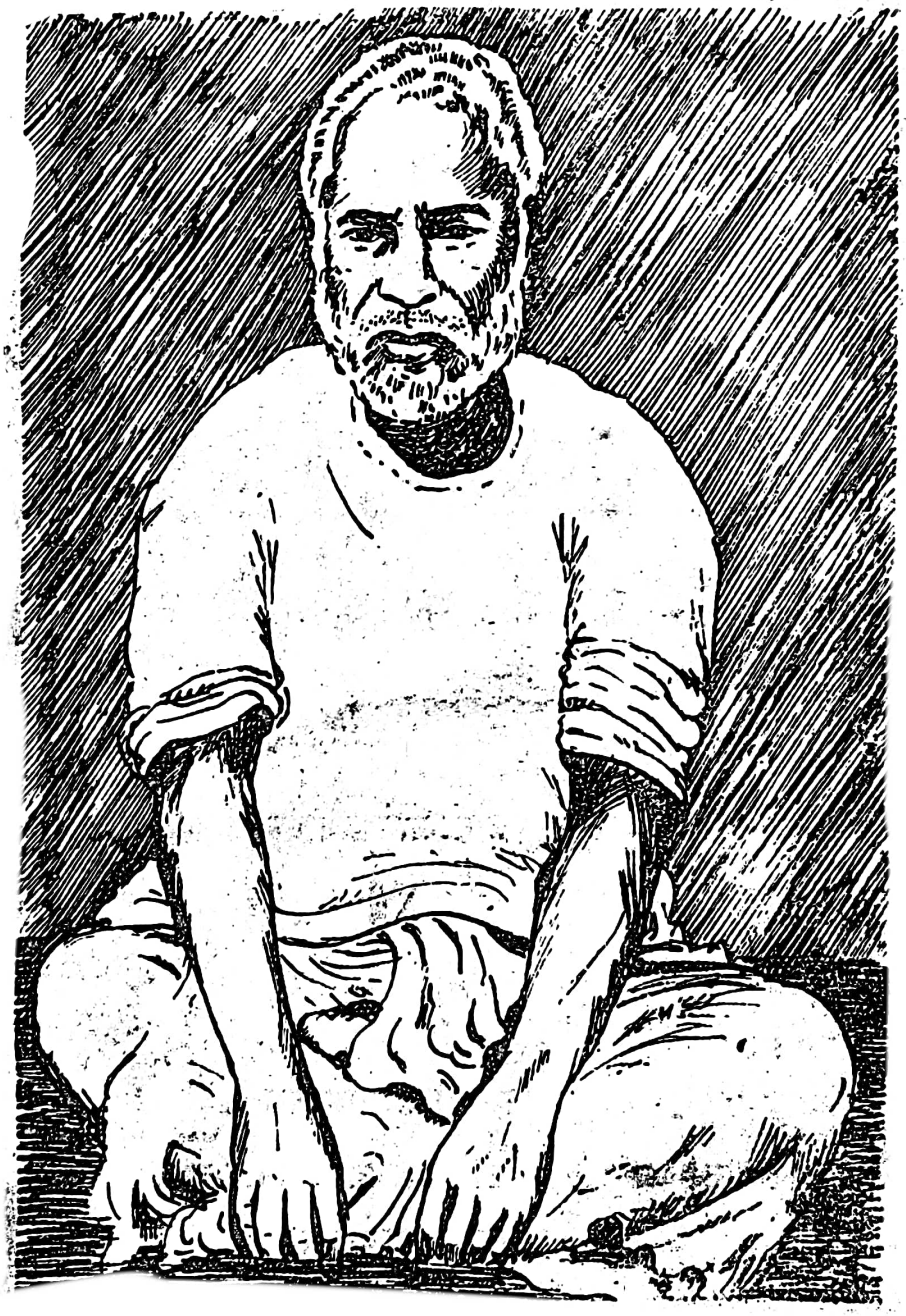

स्वामी अद्भुतानन्द (लाटू महाराज)

रामकृष्ण निलयम्, जयप्रकाश नगर, छपरा (बिहार)

यह अंक

प्रायः ज्ञान और कर्म को परस्पर विरोधी समझा जाता है और कहा जाता है कि कर्म आत्म साक्षात्कार या पूर्ण ज्ञानोपलब्धि में साधक नहीं, बाधक सिद्ध होता है। रामकृष्ण मिशन के उपाध्यक्ष, महामनीषी श्रीमत स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज ने इस धारणा का बड़े तर्क पूर्ण ढंग से खंडन करते हुए कहा है कि ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं और आचार्य शंकर तथा स्वामी विवेकानन्द के मतों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। स्वामी भूतेशानन्द जी का यह लेख हमने 'प्रबुद्ध भारत' से साभार लेकर उसका हिन्दी रूपान्तरण किया है।

पार्वती योगाश्रम, छपरा के श्रीमत स्वामी शक्तिबालक जी महाराज ने अपने निबंध में राम, धोबी और सीता वनवास की कथा को रूपक के रूप में ग्रहण कर उसमे निहित आध्यात्मिक रहस्यों का बड़े चिंतन पूर्ण ढंग से उद्घाटन किया है।

पटना विश्वविद्यालय के राजनीतिशास्त्र विभाग के आचार्य एवं अध्यक्ष डॉ० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा ने स्वामी 'विवेकानन्द का शक्तियोग' नामक निबंध में विद्वत्तापूर्ण ढंग से विश्लेषण करते हुए बताया है कि अद्वैत में पूर्ण निष्ठा रखते हुए भी स्वामी जी शक्ति की उपासना करने पर बार-बार जोर देते थे।

श्री रामकृष्ण की कृपा से निरक्षर होने पर भी लाटू महाराज ने उच्च सिद्धि पायी थी। ठाकुर के संन्यासी शिष्यों में लाटू महाराज ही बिहार के थे। उनके व्यक्तित्व एव साधना की रोचक छवि प्रस्तुत की है सव्यसाची जी ने।

श्रीमत स्वामी वेदान्तानन्द जी महाराज ने बंगला में श्रीमाँ सारदा देवी की जीवन-कथा बड़ी रोचक शैली में लिखी है। यह पुस्तकाकार प्रकाशित है। स्वामी जी की अनुमति से हम इस अंक से क्रमशः उसका हिन्दी रूपान्तरण प्रस्तुत कर रहे हैं। इससे ठाकुर और माँ के भक्तों को बड़ा तोष मिलेगा। रूपान्तरकार हैं— डॉ० केदारनाथ लाभ।

इस अंक में

१. श्रीरामकृष्ण ने कहा है		१
२. श्रीरामकृष्णोपदेशावलिः	स्वामी रामकृष्णानन्द	३
३. सम्पादकीय सम्बोधन		४
४. ज्ञान और कर्म परस्पर पूरक हैं	स्वामी भूतेशानन्द	६
५. राम, धोबी और सीता वनवास का आध्यात्मिक रहस्य	स्वामी शक्तिबालक	१६
६. स्वामी विवेकानन्द का शक्तियोग	डॉ० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा	२१
७. स्वामी अद्भुतानन्द	सिद्ध व्यसाची	२४
८. श्रीसारदादेवी (जीवन कथा)	स्वामी वेदान्तानन्द	२८
९. पत्रावली	स्वामी अभेदानन्द	२९
१०. प्रतिवेदन :	श्रीरामकृष्ण जन्मोत्सव	३१

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत

विवेक दीप

श्री रामकृष्ण-विवेकानन्द विचारधारा की एक मात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—१ मार्च, १९८२ अंक ३

उठो, जागो और लक्ष्य प्राप्त किए बिना विश्राम मत लो

संपादक

डॉ० केदारनाथ लाभ

सम्पादकीय कार्यालय

रामकृष्ण निलयम्
जयप्रकाश नगर,
छपरा—८४१३०१
(बिहार)

सहयोग राशि

षड् वार्षिक	१०० रु०
त्रैवार्षिक	५० रु०
वार्षिक	२० रु०
एक प्रति	२ रु०

रचनाएँ एवं सहयोग राशि सम्पादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें।

श्रीरामकृष्ण ने कहा है

(१)

इतनी-सी बात है—ईश्वर से प्रेम करना होगा। माँ जिस प्रकार बेटे को प्यार करती है, सती जिस प्रकार पति को प्यार करती है, विषयी जिस प्रकार विषय को प्यार करता है। इन तीन व्यक्तियों के प्रेम को, इन तीन प्रेमों को एकत्र करने से जितना होगा उतना प्रेम ईश्वर को देने से उनके दर्शन का लाभ होगा।

(२)

व्याकुल होकर उनको (ईश्वर को) पुकारना चाहिए। बिल्ली का बच्चा केवल मिऊँ-मिऊँ कर माँ को पुकारना जानता है। माँ उसे जहाँ रखती है, वहीं रहता है—कभी रसोई घर में, कभी मिट्टी पर या कभी उसे बिछावन पर रख देती है। उसे कष्ट होने पर वह केवल मिऊँ-मिऊँ कर पुकारता है। और कुछ नहीं जानता है। माँ जहाँ कहीं रहे, यह मिऊँ-मिऊँ शब्द सुनकर आ जाती है।

(३)

शास्त्र में है 'आपो नारायणः'—जल नारायण है। किन्तु, किसी जल से भगवान की पूजा होती है, फिर किसी जल से आचमन किया जाता है, बर्तन मला जाता है, किसी से केवल कपड़ा फींचा जाता है किन्तु उसे पीने या भगवान की सेवा उपयोग में नहीं लाया जाता। इसी प्रकार साधु, असाधु, भक्त, अभक्त सब के हृदय में नारायण हैं। किन्तु, असाधु, अभक्त और दुष्ट लोगों के साथ व्यवहार नहीं चलता, घुलना-मिलना नहीं होता। किसी के साथ केवल बातचीत चलती है, किसी के साथ वह भी नहीं। इस प्रकार के लोगों से अलग ही रहना चाहिए।

सामान्य सूचनाएँ

लेखकों के लिए

१. 'विवेकदीप' भगवान् श्रीरामकृष्ण एवं स्वामी विवेकानन्द जी के विचारों के प्रचार-प्रसार की पत्रिका है। अतएव, मुख्य रूप से इसमें रामकृष्ण-विवेकानन्द की चिन्तन-धारा तथा वर्तमान संदर्भ में उसके विवेचन-विश्लेषण को महत्व दिया जायगा। साथ ही, विश्व के विभिन्न धर्मों के सारतत्व एवं धर्माचार्यों की जीवन-लीला के प्रेरक प्रसंग भी समय-समय पर प्रकाशित किए जायँगे। विद्वान् लेखकों से इस परिप्रेक्ष्य में रचनाएँ भेजने का आग्रह है।

२. जन-साधारण के जीवन को नैतिक-आध्यात्मिक रूप से समुन्नत बनाने एवं उसके हित के अनुकूल धर्म, दर्शन, समाज और संस्कृति से सम्बद्ध अप्रकाशित और मौलिक रचनाएँ 'विवेकदीप' में प्रकाशनार्थ सादर आमंत्रित हैं।

३. श्रीरामकृष्ण के अनुरागी भक्तों, साधकों के जीवन में हुए आध्यात्मिक या अन्य प्रकार के अनुभव तथा जिज्ञासु भक्तों या साधकों की साधनागत समस्याओं, शंकाओं को प्रकाशित कर उनके उत्तर या समाधान भी प्रस्तुत किए जाएँगे।

४. रामकृष्ण मिशन आश्रम की विभिन्न शाखाओं में हुए कार्यों के प्रतिवेदन प्राप्त होने पर सहर्ष प्रकाशित किए जाएँगे।

५. रचनाएँ नातिदीर्घ हों तथा कागज के एक ओर उपर्युक्त हाशिया छोड़कर स्पष्ट और पठनीय लिखावट में भेजी जायँ। टंकित रचना के प्रकाशन में सुविधा होगी।

६. रचनाओं में व्यक्त विचारों के लिए सम्पादक उत्तरदायी नहीं होगा।

७. उद्धरण देने पर उद्धृत पंक्तियों के लेखक का नाम, ग्रंथ या पत्रिका का नाम, रचना का शीर्षक, प्रकाशक का नाम और प्रकाशन का स्थान, वर्ष तथा पृष्ठ का उल्लेख करना अपेक्षित है।

८. पर्याप्त डाक टिकट के अभाव में अस्वीकृत रचनाओं का लौटाना संभव नहीं होगा।

प्रकाशकों के लिए

मुख्यत: हिन्दी में प्रकाशित पुस्तकों की अधिकारी विद्वानों द्वारा 'विवेकदीप' में समीक्षा की जायगी। प्रकाशक अपनी नवीनतम प्रकाशित पुस्तकों की दो-दो प्रतियाँ संपादक के पास भेजने की कृपा करें ताकि समय पर समीक्षा प्रकाशित हो सके।

उपर्युक्त विषयों से संबद्ध सभी पत्राचार नीचे लिखे पते पर करें—

डॉ० केदारनाथ लाभ, संपादक, विवेकदीप, रामकृष्ण निलयम, जयप्रकाश नगर, छपरा-८४१ ३०१ (बिहार)

ग्राहकों के लिए

१. वर्ष के किसी महीने से ग्राहक बना जा सकता है। उस वर्ष के पिछले सभी प्रकाशित अंक ग्राहक को भेज दिए जाएँगे।

२. ग्राहक-शुल्क मनीआर्डर द्वारा भेजने की कृपा करें। सीधे रसीद लेकर भी ग्राहक बना जा सकता है।

३. तीन महीने या उससे अधिक के लिए यदि पता में परिवर्तन कराना हो तो उसकी सूचना कार्यालय को भेज दें। उससे कम अवधि के परिवर्तन के लिए डाकघर में सम्पर्क कर व्यवस्था करवा लेनी चाहिए।

विज्ञापन दाताओं के लिए

'विवेकदीप' में प्रकाशनार्थ विभिन्न आकारों के विज्ञापन हम सहर्ष स्वीकार करते हैं। विज्ञापनदाताओं से अनुरोध है कि विज्ञापन की दर आदि के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी के लिए हमें लिखें। 'विवेकदीप' का व्यापक प्रचार-प्रसार है।

ग्राहक शुल्क के नवीकरण, विज्ञापन एवं अन्य व्यापारिक विषयों के लिए निम्नोक्त पते पर सम्पर्क स्थापित करें।

व्यवस्थापक, विवेकदीप, रामकृष्ण निलयम, जयप्रकाश नगर, छपरा-८४१ ३०१ (बिहार)

श्रीरामकृष्णोपदेशावलिः

—स्वामी रामकृष्णानन्द

कृपणेषु यथार्थेषु स्पृहास्ति बलवत्तमा ।
तथैव तव लोभोऽस्तु श्रीहरेः पादसेवने ॥ १ ॥

फलोदये क्षयं याति यथा पुष्पबलानि वै ।
ज्ञानोदये तथा ह्यत्र मानमोहमदान्धता ॥ २ ॥

हृदाकाशमिदं यावत् व्याप्तं तमसावृतम् ।
अज्ञानसूर्योदयस्याहितु तावत् संभवः कुतः ॥ ३ ॥

तावत् गुञ्जति भृङ्गोऽयं यावत् पुष्पं न गच्छति ।
पुष्पालिङ्गनमासाद्य निःशब्दो मधुपस्तदा ॥ ४ ॥

शास्त्रालापं प्रपञ्चस्तावत् वादतर्कपरायणः ।
पण्डितस्तावत् घोषणायाञ्चैः मानस्वार्थं कथनोत्सुकः ॥ ५ ॥

शास्त्रिणां प्रतिपाद्यस्य सर्वथा मोघवरस्य तु ।
यावन्न लभते भक्तिं पादपङ्कजयोर्युगयोः ॥ ६ ॥

यदा तु तत्कृपालेशात् तद्भक्तिं लभते परम् ।
तदाऽऽलोकनात् तस्य निश्चेष्टो जायते तदा ॥ ७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार कृपण को रुपये-पैसों के लिए तीव्र लालसा होती है उसी प्रकार तुम्हें भी श्री हरि के चरणों की सेवा की लालसा होनी चाहिए ॥ १ ॥

जिस प्रकार फल निकलने के समय पुष्पों के दल झड़ने लगते हैं उसी प्रकार ज्ञान के उदय होने पर मान, मोह और मद से उत्पन्न अन्धता भी विनष्ट होने लगती है ॥ २ ॥

जब तक हमारे हृदय के आकाश में घोर तमस का अन्धकार फैला रहेगा तब तक ब्रह्मज्ञान का सूर्योदय कैसे संभव हो सकता है ॥ ३ ॥

भौंरा तभी तक गुन-गुन करता रहता है जब तक फूल पर बैठ नहीं जाता। लेकिन ज्यों ही वह फूल का आलिंगन करता है त्यों ही वह मौन या निःशब्द हो जाता है ॥ ४ ॥

उसी प्रकार पंडित तभी तक अनेक वादों, तर्कों तथा शास्त्रों की उच्च स्वर में घोषणा एवं उनका प्रतिपादन करता रहता है जब तक उसके हृदय में भगवान के चरण-कमलों के लिए भक्तिभाव नहीं उत्पन्न होता है ॥ ५-६ ॥

जब ईश्वर की कृपा से उसमें सच्ची भक्ति का उदय हो जाता है तब वह ईश्वर के दर्शन से तृप्त होकर मौन हो जाता है ॥ ७ ॥

भारत में पारसी और यहूदी शरणार्थी बनकर आये और यहीं बस गए। हिन्दुओं ने उन्हें अपने धर्म का पालन करने की पूरी छूट दी। इंगलैंड में ईसाई धर्म के प्रचार के काफी पहले प्रभु ईसा मसीह के प्रत्यक्ष शिष्य टॉमस भारत आए और हिन्दुओं ने न केवल उन्हें शरण दी या सुरक्षा प्रदान की बल्कि अपने धर्म का शान्तिपूर्वक प्रचार करने की भी पूरी स्वतंत्रता दी। संकट तब उत्पन्न होने लगा जब आर्थिक प्रलोभन के द्वारा, खड्ग के भय के द्वारा, अथवा अशिक्षा या अज्ञानता के कारण छल से अन्य धर्मवालों ने हिन्दुओं का बलात् धर्मान्तरण कराना शुरू किया।

अभी कुछ दिन पहले रांची में केरल के किसी ईसाई ने स्वामी नरेन्द्रानन्द के नाम से हिन्दू संन्यासी का रूप धारण कर उच्चवर्ण के हिन्दू युवकों को ऊँची शिक्षा दिलाने या नौकरी दिलाने का प्रलोभन देकर उनका धर्मान्तरण करने का कुचक्र किया था। उसका विश्वास है कि जब तक उच्च वर्ण के हिन्दू ईसाई नहीं होते तब तक भारत में ईसाई धर्म का पूर्ण प्रसार नहीं होगा।

मीनाक्षीपुरम् में जिस प्रकार हिन्दुओं का सामूहिक धर्मान्तरण किया गया उसके मूल में विदेशी पैसे कार्य कर रहे थे—ऐसा कई सत्ताधारी दल के नेताओं ने भी स्वीकार किया है। यह चिंतनीय है।

किन्तु, प्रश्न है कि क्यों कुछ रुपये के लोभ में एक पूरी बस्ती के लोग अपना धर्मान्तरण करने को सहमत हो गये? क्या आर्थिक प्रलोभन के अतिरिक्त अन्य भी कोई कारण था? क्या मुसलमान वहाँ इतने समर्थ हैं कि उनके षड्यंत्र का शिकार होने को हिन्दू अभिशप्त हैं? हमें इन प्रश्नों के तफसील में जाना होगा। हमें अपना भी आत्म निरीक्षण करना होगा।

स्वामी विवेकानन्द का कथन है कि मनुष्य को दोषों के कारण की तलाश अपने भीतर करनी चाहिए, बाहर नहीं। रोग तभी किसी शरीर पर आक्रमण करते हैं जब वह दुर्बल होता है न कि तब जब वह सबल और सशक्त होता है। हिन्दू समाज अनेक कुरीतियों, अंध विश्वासों और पक्षपातों से, जो हिन्दू धर्म के अंग नहीं हैं, कमजोर हो गया है। दुर्बलता और आपसी एकता के अभाव ने हिन्दू समाज को बाहरी आक्रमण का शिकार बनाया है। हिन्दू समाज को मजबूत और संगठित बनाओ तब सब कुछ ठीक हो जायगा और इसे छूने का कोई साहस नहीं करेगा।"

स्वामीजी का यह कथन आज के संदर्भ में बड़ा उपयुक्त है आखिर इतने हरिजन क्यों मुसलमान हो गये या होने को हैं? यह सही है कि वे आर्थिक दृष्टि से कमजोर हैं। पिछले पैंतिस वर्षों में राष्ट्रीय आमदनी का उचित अंश उन तक नहीं पहुँच पाया। वे विपन्न के विपन्न बने रहे। लेकिन यह भी सच है कि कुछ न कुछ आर्थिक या शैक्षणिक लाभ उन्हें भी मिला अवश्य है गो कि वह नाकाफी है। महत्व की बात यह है कि सामाजिक दृष्टि से भी उनका स्थान समाज में समता और ममतापूर्ण नहीं हुआ। वे अभी मानवीय अधिकारों से वंचित हैं। आज बहुसंख्यक हरिजन मंदिरों में नहीं जा पाते। आज भी वे सवर्ण हिन्दुओं के साथ एक पाँत में बैठकर नहीं खा सकते। आज भी कोई भक्त हरिजन किसी मन्दिर का पुजारी नहीं बन सकता। जब हिन्दू होने पर भी वे एक हिन्दू के अधिकारों से वंचित हैं तब जहाँ उन्हें आदर मिलेगा, समता मिलेगी, प्रेम और भ्रातृत्व मिलेंगे वहाँ वे क्यों न हुलासपूर्वक जाना पसंद करेंगे? क्या आज भी सवर्ण हिन्दू इन हरिजनों के साथ अमानवीय, दुष्टतापूर्ण और निर्दय व्यवहार नहीं करते? तमिलनाडु की तो बात ही क्या, बिहार और उत्तरप्रदेश में भी क्या उनकी सामूहिक हत्याएँ किसी न किसी कारण से आये दिन नहीं हो रही हैं? क्या ये घटनाएँ किसी वर्ग को अपना धर्म छोड़ने को विवश नहीं करतीं? हिन्दू धर्म वस्तुतः औरों से नहीं अपने रोगों से ही मारा जाता है।

स्वामी विवेकानन्द ने सन् १८९३ ई. में अपने एक

मद्रासी शिष्य को कितना ठीक लिखा था—"पृथ्वी पर ऐसा कोई धर्म नहीं है, जो हिन्दू धर्म के समान इतने उच्च स्वर से मानवता के गौरव का उपदेश करता हो, और पृथ्वी पर ऐसा कोई धर्म नहीं है, जो हिन्दू धर्म के समान गरीबों और निम्न जातिवालों का गला ऐसी क्रूरता से घोंटता हो। प्रभु ने मुझे दिखा दिया है कि इसमें धर्मका कोई दोष नहीं है, वरन् दोष उनका है, जो ढोंगी और दम्भी हैं, जो 'परमार्थिक' और 'व्यावहारिक' सिद्धांतों के रूप में अनेक प्रकार के अत्याचार के अस्त्र निर्माण करते हैं।"२ और मीनाक्षीपुरम् के हरिजनों ने भी अपने धर्मान्तरण के कारणों पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि हिन्दुओं के विभिन्न बर्बरतापूर्ण एवं अमानवीय व्यवहारों तथा छुआ-छूत के अपमानजनक आचरणों ने उन्हें हिन्दूधर्म का परित्याग कर इस्लाम धर्म स्वीकार करने पर विवश कर दिया।

हिन्दुओं के अमानुषिक व्यवहार से खीझकर ही अनेक निम्नवर्ग के हिन्दू कभी ईसाई हो जाते हैं और कभी मुसलमान। मद्रास के सवर्ण हिन्दुओं के अनाचार की चर्चा करते हुए स्वामी विवेकानन्द जी ने एक शिष्य से कहा था—'यह देखो न—हिन्दुओं की सहानुभूति न पाकर मद्रास प्रान्त में हजारों पेरिया ईसाई बने जा रहे हैं. पर ऐसा न समझना कि वे केवल पेट के लिए ईसाई बनते हैं। असल में हमारी सहानुभूति न पाने के कारण वे ईसाई बनते हैं। हम दिन-रात उन्हें केवल यही कहते रहे हैं, 'छुओ मत, छुओ मत!' छुआछूत पंथियों का दल रह गया है! ऐसे आचार के मुख पर मार झाड़ू, मार लात! इच्छा होती है तेरे छुआ-छूत-पंथ की सीमा को तोड़कर अभी चला जाऊँ—'जहाँ कहीं भी पतित, गरीब, दीन-दरिद्र हों, आ जाओ' यह कह कर उन सभी को श्रीरामकृ[illegible] नाम पर बुला लाऊँ। इन लोगों के बिना उठे माँ न[illegible] जागेगी। .. ..मैं दिव्य दृष्टि से देख रहा हूँ. इनके और मेरे भीतर एक ही ब्रह्म—एक ही शक्ति विद्यमान है; केवल विकास की न्यूनाधिकता है। सभी अंगों में रक्त का संचार हुए बिना किसी भी देश को कभी उठते देखा है? एक अंग के दुर्बल हो जाने पर, दूसरे अंग के सबल होने से भी उस देह से कोई बड़ा काम फिर नहीं होता। इस बात को निश्चित जान लेना।३

ये हरिजन जब अपना धर्म-परिवर्तन कर लेते हैं तब वही हिन्दू उन्हें मानवीय सम्मान देने लगते हैं कैसी विचित्र स्थिति है! एक ही व्यक्ति जब तक हरिजन रहता है, वह हमारे प्रेम और आदर से वंचित रहता है, और वही जब मुसलमान या ईसाई हो जाता है तब हमारे सम्मान और स्नेह का पात्र हो जाता है। स्वामीजी ने इस स्थिति का बड़ा ही करुणापूर्ण वर्णन किया है। वे कहते हैं-'किस हास्यास्पद दशा को हम पहुंच गये हैं! यदि कोई भंगी हमारे पास भंगी के रूप में आता है तो छूतही बीमारी की तरह हम उसके स्पर्श से दूर भागते हैं। परन्तु जब उसके सिर पर एक कटोरा पानी डालकर कोई पादरी प्रार्थना के रूप में कुछ गुन-गुना देता है और जब उसे पहनने को एक कोट मिल जाता—वह कितना ही फटा-पुराना क्यों न हो—तब चाहे वह किसी कट्टर से कट्टर हिन्दू के कमरे के भीतर पहुँच जाय, उसके लिए कहीं रोक-टोक नहीं, ऐसा कोई नहीं जो उससे सप्रेम हाथ मिलाकर बैठने के लिए उसे कुर्सी न दे! इससे अधिक विडम्बना की बात क्या हो सकती है? आइये, देखिये तो सही, दक्षिण भारत में पादरी लोग क्या क्या गजब कर रहे हैं। ये लोग नीच जाति के लोगों को लाखों की संख्या में ईसाई बना रहे हैं। ट्रावंकोर में जहाँ पुरोहितों के अत्याचार भारत वर्ष भर में सबसे अधिक हैं, जहाँ जमीन के प्रत्येक टुकड़े के मालिक ब्राह्मण हैं और जहाँ राजघरानों की महिलाएँ तक

२. विवेकानन्द साहित्य : प्रथम भाग पृ० ४०३—४ : अद्वैत आश्रम कलकत्ता।
३. विवेकानन्द जी के संग में : श्री शरचन्द्र चक्रवर्ती : पृ० ३५१—५२ प्रकाशक : श्री रामकृष्ण [illegible]म, नागपुर।

ब्राह्मणों की उपपत्नी बनकर रहने में गौरव मानती हैं वहाँ लगभग चौथाई जनसंख्या ईसाई हो गयी है। मैं उन बेचारों को क्यों दोष दूँ ? हे भगवन्, मनुष्य कब दूसरे मनुष्यों से भाईचारे का वर्ताव करना सीखेंगे ?"४

इसलिए आज धर्मान्तरण रोकने के निमित्त आवश्यकता इस बात की है कि गरीबों और हरिजनों पर अत्याचार करना हिन्दू एकदम बन्द कर दें।

सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से पिछड़े लोगों, गिरिजनों, हरिजनों आदि को आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक सभी दृष्टियों से सभी स्तरों पर ऊपर उठाने के लिए सवर्ण हिन्दुओं को अविलम्ब तत्पर हो जाना चाहिए। उनमें शिक्षा और संस्कृति का प्रचार कर, उन्हें धर्म की महिमा और गरिमा का बोध करा कर उन्हें उन्नत करना होगा। लेकिन उनके स्वास्थ्य और सफाई पर ध्यान देना होगा। उनके बीच कथा कीर्त्तन और नाटकों के माध्यम से स्वधर्म की महिमा का प्रचार करना होगा। उन्हें संस्कृत की शिक्षा देनी होगी ताकि वे अपने स्वरुप को समझ सकें। उनमें उद्योग धंधों का प्रचार-प्रसार कर उनकी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ करनी होगी। उनके साथ खाना-पीना होगा। उन्हें अपनी ममता और प्यार की बाँहों में भरना होगा। उनके साथ समता का व्यवहार करना होगा और उन्हें अपना भाई मानना होगा। उन्हें बताना होगा कि किसी भी रुप में वे अन्य हिन्दुओं से ओछे नहीं हैं। तभी उनमें अपने धर्म के प्रति आस्था और आदर के भाव जग सकेंगे। स्वामी विवेकानन्द ने ठीक ही कहा था—'प्रत्येक द्विजाति का ही उपनयन-संस्कार में अधिकार है स्वयं वेद इसका प्रमाण है। आज श्रीरामकृष्ण की जन्म तिथि में जो लोग यहाँ आयेंगे, मैं उन सब को जनेऊ पहनाऊँगा। वे सब व्रात्य (संस्कार से पतित) हो गये हैं। ...आज भी गुरुदेव का शुभ जन्मतिथि पूजन है—उनके नाम से वे सब शुद्ध, पवित्र हो जायेंगे। इसलिए आज उन उपस्थित भक्तगणों को जनेऊ पहिनाना है। ..... क्रमशः देश के सब लोगों को ब्राह्मण-पद पर आरुढ़ कराना होगा; श्रीगुरुदेव के भक्तों का तो कहना ही क्या है ? हिन्दू मात्र एक दूसरे के भाई हैं। 'इसे नहीं छूते, उसे नहीं छूते' कहकर ही तो हमने ऐसा बना दिया है। इसीलिए तो हमारा देश हीनता, भीरुता, मूर्खता तथा कापुरुषता की चरम अवस्था को प्राप्त हुआ है। इनको उठाना होगा; उन्हें अभय वाणी सुनानी होगी, बतलाना होगा कि तुम भी हमारे समान मनुष्य हो, तुम्हारा भी हमारे समान सब अधिकार है।'

इस प्रकार हरिजनों, गिरिजनों और अन्य पिछड़े हिन्दुओं का नैतिक, सामाजिक, शैक्षिक और सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक अभ्युदय कराकर ही हम उन्हें गौरव के साथ अपने को हिन्दू कहने और हिन्दू बने रहने को प्रेरित कर सकते हैं।

आइए, हम आप सब मिलकर समस्त हिन्दुओं में, ब्राह्मण से अनुसूचित और अनुसूचित जन जाति के सभी लोगों में, अपने रूप का साक्षात्कार करें, शिव का साक्षात्कार करें, एक ही अनन्त ब्रह्म का साक्षात्कार करें और उन्हें समुचित आदर-सम्मान देकर अपने को उपकृत करें, कृत-कृत्य करें, धन्य करें।

भगवान् रामकृष्ण हम—सब को सद्बुद्धि दें, हम—सब का कल्याण करें।

४. पत्रावली : प्रथम भाग : स्वामी विवेकानन्द : पृ० ६१—६२
प्रकाशक : श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर
५. विवेकानन्द के संग में—शरच्चन्द्र चक्रवर्ती।

ज्ञान और कर्म परस्पर पूरक हैं

—स्वामी भूतेशानन्द

(उपाध्यक्ष, रामकृष्ण मठ एवम् रामकृष्ण संघ)

मुझसे स्वामी जी (स्वामी विवेकानन्द जी) द्वारा प्रतिपादित कर्म, बल्कि कर्मयोग विषयक विचारों तथा शंकराचार्य के इस विचार का कि कर्म ज्ञान के विपरीत है, इन दो कथित विरोधी धारणाओं पर विवेचन करने को कहा गया है। मैं आरंभ में ही तुम से कहना चाहूँगा कि यह विवाद और भ्रम कर्म और ज्ञान शब्दों के गलत प्रयोग एवं मिथ्या बोध के कारण ही उठ खड़े हुए हैं। इसलिए, सर्वप्रथम हमें इन शब्दों का सही अर्थ निर्धारित करने की चेष्टा करनी चाहिए। शंकराचार्य 'विवेक चूड़ामणि' में कहते हैं—

चित्तस्य शुद्धये कर्म न तु वस्तूपलब्धये।
वस्तुसिद्धिर्विचारेण न किंचित्कर्मकोटिभिः ॥ ११ ॥

अर्थात कर्म चित्त की शुद्धि के लिए ही है, वस्तु अथवा सत्य की उपलब्धि (तत्वानुभूति) के लिए नहीं। वस्तु-सिद्धि तो विचार-विवेक या ध्यान से ही होती है। करोड़ों कर्मों से कुछ भी नहीं हो सकता।

कर्म और ज्ञान शब्द

प्रायः हम आचार्य शंकर के पदों को, उनके विरोधी विचारों में से एक या दूसरे को प्रमाणित करने के लिए, उद्धृत किया करते हैं : जैसे—क्या कर्म ज्ञान की अपेक्षा हीन है ज्ञान कर्म से न्यून महत्व का है ! कभी-कभी तुम गीता के श्लोकोंमें भी इसी प्रकार परस्पर विरोधी विचार पाते हो। (देखो भगवद्गीता, ४-३३, ३७, ३८) ऐसे विवाद रोचक होते हैं, इसमें संदेह नहीं, लेकिन गहरी छानबीन करने से पता चलेगा कि इस प्रकार की तुलना में एक दोष है और वह है शब्दों का गलत प्रयोग। जब हम कर्म और ज्ञान, इन दोनों शब्दों का उपयुक्त प्रसंगों का उल्लेख किये बिना, प्रयोग करते हैं तब एक उलझन या भ्रांति उत्पन्न हो जाती है। और परिणाम स्वरुप हम विचारणीय विषयों का घोर-मठ्ठा कर देते है। इन दोनों शब्दों का जिन प्रसंगों में उल्लेख हुआ है उन उपयुक्त प्रसंगों में ही हमें इन शब्दों को समझना होगा।

शंकर ने कर्म शब्द का प्रयोग सकाम कर्म, अर्थात स्वार्थ के भाव से किया गया कर्म, के अर्थ में किया है। शास्त्रों में जिन कर्मों की व्यवस्था दी गयी हैं वे इस जीवन में तथा अगले जीवन में कुछ प्रकार के अभ्युदय अर्थात् समृद्धियों को प्राप्त करने के साधन रुप हैं। शंकर के द्वारा भी कर्म का इन्हीं कर्मों के अर्थ में प्रयोग हुआ है।

ऐसा कहा जाता है कि बिना किसी प्रवृत्ति या प्रेरक कारण के कर्म संभव नहीं है। यह प्रवृत्ति ही है जो हमें कुछ करने को प्रेरित करती है। थोड़ा सोचने से यह स्पष्ट हो जायगा कि जब तक हमलोगों को कोई कामना न हो तब तक हममें कोई प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं हो सकती और फिर अपूर्णता के भाव बिना हममें कोई कामना नहीं उत्पन्न हो सकती। अपूर्णता का भाव तभी आता है जब हमें अपने यथार्थ स्वरुप का ज्ञान नहीं रहता है। शंकराचार्य के अनुसार हमारा यथार्थ स्वरुप है आत्मा जो ब्रह्म से अ-भिन्न है। हमारे अपूर्णता का भाव ही हमें कर्म करने को उद्यत करता है।

अविद्या, काम और कर्म

अविद्या, काम, कर्म, ये तीनों शब्द एक साथ ही प्रयुक्त होते हैं। अविद्या का अर्थ है हमारे यथार्थ स्वरुप

का अज्ञान या गलत बोध। काम का अर्थ है इच्छा या कामना और कर्म कार्य या व्यापार को कहते हैं। हम देख चुके हैं कि कामना इस जीवन या अगले जीवन में कुछ अभ्युदय की प्राप्ति के लिए कर्म करने को प्रेरित करती है। यही कारण है कि शंकराचार्य के भाष्य में कई स्थलों पर हम यह उल्लेख पाते हैं कि कर्म से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती क्योंकि मोक्ष किसी कर्म का फल नहीं है। बल्कि यह मोक्ष एक अवस्था है जहाँ सभी कर्म और उनके फल उच्चता को पहुँचते हैं और जहाँ अपूर्णता का कोई भाव नहीं रहता है। आधुनिक शब्दों में इसे हम परमोपलब्धि और परिपूर्णता की अवस्था कह सकते हैं। इस प्रकार की मुक्ति केवल ज्ञान से ही होती है।

इसलिए, आचार्य शंकर कहते हैं कि ज्ञान और मुक्ति प्रकाश और अंधकार की तरह हैं, जो एक साथ कदापि नहीं रह सकते हैं। ये दोनों एक दूसरे के विपरीत रूप से विरोधी हैं। मोक्ष एक ऐसी अवस्था है जो सभी कामनाओं से सर्वथा पृथक् है, जबकि कर्म कामना से उत्पन्न होता है। लेकिन मैं तुमको स्मरण दिलाना चाहूँगा कि ज्ञान और कर्म केवल तभी विरोधी दिखाई पड़ते हैं जब उनका प्रयोग पूर्व कथित रूप में होता है, अन्यथा नहीं।

दुर्भाग्यवश, कर्म शब्द शंकराचार्य के सामान्य पाठकों द्वारा गलत रूप में समझ लिया गया है। वे गलत ढंग से सोच लेते हैं कि कर्म के सम्पूर्ण अवरोध का आदर्श ही उन महाआचार्य द्वारा प्रस्तुत किया गया है। तुमको यह जान लेना चाहिए कि उन्होंने कई स्थलों पर इस विचार की निन्दा की है। गीता कहती है कि केवल सभी कर्मों के अवरोध को ही ज्ञान की अवस्था नहीं कहते हैं। (गीता : ३.४.) ज्ञान का अर्थ निश्चलता या मूर्च्छा नहीं है। जीवन की किसी अवस्था में, किसी के लिए, पूर्णतः कर्म-रहित हो जाना संभव नहीं है, जब तक वह मर नहीं जाता है। (गीता ३. ५ ; १८. ११)

जब तक हमलोग जीवित हैं, हमलोगों को किसी न किसी रूप में सक्रिय रहना ही है। यदि ज्ञान—मार्ग का अनुसरण करने वाला निष्क्रिय हो जाना चाहता है तो वह ज्ञान का अनुसरण करनेवाला भी नहीं रह सकता है, क्योंकि ज्ञान की साधना स्वयं ही एक प्रकार की क्रिया है; यह एक मानसिक क्रिया है। इसलिए इन दोनों में उतना विरोध नहीं है जितना सामान्यतः हमलोग समझते हैं। एक बार एक वरिष्ठ संन्यासी ने, जो अब जीवित नहीं हैं, स्वामी तुरीयानन्दजी महाराज को लिखा 'महाराज, मैं अनुभव करता हूँ कि किसी भी तरह की क्रिया अपने साथ अहंकार ले आती है। इसीलिए मैं अनुभव करता हूँ कि मुझे सभी कर्मों से मुक्त हो जाना चाहिए।' इसका अर्थ हुआ कि जो भी कार्य उन्हें सौंपा जायगा उसे वे नहीं करेंगे। और उन्हें उत्तर मिला—'क्या तुम सोचते हो कि यदि तुम केवल सभी कर्मों से विलग हो जाओगे तो तुम्हारे अहंकार का विनाश हो जायगा ?' यह नैष्कर्म्य का गलत अर्थ है।

शंकर ने नैष्कर्य शब्द का अनेक स्थलों पर प्रयोग किया है। नैष्कर्म्य शब्द का अर्थ सभी प्रकार के कार्यों—शारीरिक और मानसिक—का अवरोध नहीं है; क्योंकि उस अर्थ में केवल मृत व्यक्ति ही सभी प्रकार के कर्मों से पूर्णतः मुक्त हो सकता है। शंकर या कोई अन्य दार्शनिक कभी भी ऐसी कोई व्यवस्था नहीं दे सकते हैं जो जीवित व्यक्तियों के लिए उपयोगी और व्यवहार के योग्य न हो। शंकर के अनुसार कर्म का अर्थ केवल उस प्रकार का कार्य-कलाप है जो काम या इच्छा से प्रेरित होता है। इसका अर्थ सभी प्रकार के कार्य-कलाप नहीं है। इसलिए, कर्म और ज्ञान के बीच केवल इस अर्थ में विरोध है कि जब तुम सभी प्रकार की कामनाओं से मुक्त होने का प्रयास कर रहे हो तब उसके साथ ही तुम ऐसे कर्मों में नहीं लग सकते जो कामनाओं से उत्प्रेरित हुए हों। स्मरण रखो कि कर्म और ज्ञान, इन दोनों में यही मुख्य अन्तर है।

किन्तु ज्ञान और कर्म का यह अन्तर या विरोध

अनिवार्य रूप से सर्वदा नहीं रहता है। जब कर्म काम या स्वार्थपूर्ण कामनाओं से—ध्यान दो, मैं स्वार्थपूर्ण कामना पर जोर दे रहा हूँ, सभी प्रकार की कामनाओं पर नहीं—नहीं उत्प्रेरित होता, तब शास्त्रीय दृष्टि से यह कर्म नहीं है। इस विन्दु पर शंकर बिल्कुल स्पष्ट हैं। वे कहते हैं—"मान लो किसी व्यक्ति ने इस लोक या परलोक में कुछ प्राप्त करने की कामना से कोई वैदिक यज्ञ—सकाम कर्म—करना शुरू किया। वह कुछ समय तक यह यज्ञ करता रहता है, और इस यज्ञ के पूर्ण होने के पहले ही, उसके हृदय से कुछ प्राप्त करने की कामना समाप्त हो जाती है, लेकिन वह केवल इसलिए यज्ञ करता जाता है कि इसे अधूरा छोड़ना नहीं चाहता। लेकिन उसके मूल में अब कोई स्वार्थपूर्ण कामना नहीं है; इसलिए शास्त्रीय दृष्टि से यह कर्म नहीं रहेगा और उसको कोई फल नहीं प्रदान करेगा।" अतः हम देखते हैं कि निःस्वार्थ भाव से की जाने वाली क्रिया, शंकर के अनुसार, कर्म नहीं है।

निःस्वार्थ कर्म

अब दूसरा प्रश्न यह है कि, मान लो हमलोग निःस्वार्थ भाव से कोई कर्म कर रहे हैं, क्या यह हमारे ज्ञान के लिए बाधक नहीं होगा ? क्या यह ज्ञान से संघर्ष नहीं करेगा ? कदापि नहीं। ऐसा हमारे शास्त्रों में कहीं नहीं कहा गया है। तब फिर **'चित्तस्य शुद्धये कर्म न तु वस्तूपलब्धये'** के विषय में क्या कहा जायगा ? हमने इसी से आरंभ किया था। (देखो, विवेक चूड़ामणि, ११ वाँ श्लोक) शंकर के अनुसार वस्तूपलब्धि अर्थात् यथार्थ की अनुभूति केवल अज्ञान के तिरोधान से ही हो सकती है। और यह तभी संभव है जब हम आत्म के वास्तविक रूप को ठीक से समझ लें। शंकर के अनुसार किसी प्रकार के कर्म के द्वारा आत्म की उपलब्धि नहीं हो सकती। हाँ, वे निदिध्यासन और मनन को कर्म में नहीं गिनते हैं। अन्य सारे कार्य परम तत्व के प्रत्यक्षीकरण में सहायक नहीं हैं।

प्रत्यक्षीकरण क्या है ? शंकर के मतानुसार प्रत्यक्षीकरण

प्रत्यक्षीकरण किसे कहते हैं ? शंकर के मतानुसार प्रत्यक्षीकरण का अर्थ है—असंदिग्ध ज्ञान या अविपर्यस्त ज्ञान—अर्थात् ज्ञान का वह रूप जो किसी प्रकार के संदेह या किसी प्रकार के अशुद्ध बोध से मिश्रित न हो। जो ज्ञान शुद्ध है और जिसमें विपरीतता या प्रतिकूलता का लेश मात्र भी न हो उसे परम शुद्ध ज्ञान कहते हैं। शंकर इसीको प्रत्यक्षीकरण कहते हैं।

हमलोग प्रत्यक्षीकरण के विषय में प्रायः विचित्र धारणाएँ रखते हैं। प्रत्यक्षीकरण का अर्थ हमलोग प्रायः कोई ऐसी वस्तु समझते हैं जो सहसा, अचानक या एकाएक आ जाती है और उससे सारे विश्व का रूपान्तरण हो जाता है। मानो एक प्रकार का चमत्कार हो यह। लेकिन मुझे कहने दो कि शंकर ऐसे चमत्कारों में विश्वास नहीं करते हैं। वे कठोर तथ्यों से जूझने वाले व्यक्ति हैं। यदि हमलोगों को अपने तई ज्ञान का वह रूप प्राप्त करना है जो किसी प्रकार के संदेह या भ्रांति से मिश्रित न हो तो इसे धीरे-धीरे ही प्राप्त किया जा सकता है। यह अचानक किसी व्यक्ति के पास नहीं आ जाता है। इसे कठोर कर्म के द्वारा प्राप्त करना है। धीरे-धीरे इस लक्ष्य की ओर प्रगति करनी होगी। और इस प्रगति का अंतिम छोर ही लक्ष्य है।

यहाँ मैं तुम्हारा ध्यान एक महत्वपूर्ण विन्दु की ओर आकृष्ट करना चाहूँगा। ज्ञान के जिस रूप की चर्चा ऊपर की गयी है उसकी प्राप्ति केवल एक बौद्धिक प्रक्रिया नहीं है, यह वह प्रक्रिया है जिसमें हमें अपने पूरे अस्तित्व को संयुक्त करना होगा। इस प्रक्रिया में हमारे अस्तित्व के तीनों निकाय—विचार, भाव और इच्छा—गहराई से लगे रहते हैं। जब हमारे अस्तित्व के ये सभी निकाय एकजुट होकर शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति की दिशा में कार्य करने लगें हैं और अगर हम अंत तक निरंतर प्रयत्नशील रहें, तब एक दिन यह हमें परम ज्ञान की प्राप्ति की ओर ले जा सकता है,

जब कि अपने आत्म के शुद्ध स्वभाव के विषय में, हमारे मन में लेश मात्र भी संदेह या अज्ञानता नहीं रह जायगी।

शंकर का विचार है कि उच्चतम प्रत्यक्षानुभूति की प्रक्रिया में कर्म के लिए कोई स्थान नहीं है। आरभ में कर्म उपयोगी हो सकता है। जैसा कि कहा गया है—चिन्तस्य शुद्धये कर्म—कर्म चित्त की शुद्धि के लिए है। चित्त को शुद्ध करना होगा और इसी शुद्ध चित्त से उच्चतम लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है।

चित्त शुद्धि के लिए कर्म का वहन कहाँ तक करना चहिए? यह दूसरा प्रश्न है। शकर के अनुसार जब चित्त शुद्ध हो जाता है, तब व्यक्ति को मनन और निदिध्यासन, यानी लक्ष्य और गंभीर ध्यान की बौद्धिक समझ की योग्यता प्राप्त होती है। कर्म केवल इसी स्तर तक सहायक है। जब मनन और निदिध्यासन का स्तर पार हो जाता है, कर्म की तब और कोई उपयोगिता नहीं रह जाती है। इसने अपना कार्य कर लिया और स्वभावतः इसे समाप्त हो जाना चाहिए। इसके बाद ज्ञान का खुलना प्रारंभ हो जाता है। जैसा मैंने पहले ही संकेत किया है। शंकर के मतानुसार कर्म प्रत्यक्षानुभूति के अंतिम स्तर तक ऊपर नहीं ले जा सकता।

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार ज्ञान और भक्ति की भाँति ही कर्म हमें सीधे उच्चतम लक्ष्य तक ले जा सकता है। कर्म को किसी भी स्तर पर त्यागने की जरूरत नहीं है, क्योंकि कर्म का प्रयोजन ही चित्त को शुद्ध करना है। जब चित्त शुद्ध हो गया तो फिर और कुछ करने को रह ही कहाँ जाता है? स्वामी जी कहते हैं कि तब सत्य स्वयं अपने को सहज रूप में उद्घाटित कर देता है।

शुद्धिकरण और प्रत्यक्षानुभव

मैं तुम्हारा ध्यान इस प्रक्रिया की ओर आकृष्ट करना चाहूँगा। इसे समझने की चेष्टा करो। वह क्या है जो हमें ईश्वर की अनुभूति से अलग रखे हुए है? चित्त की अशुद्धता। वही परम सत्य को हमसे छिपाये हुए है। एक उदाहरण से इसे तुम स्पष्टता से समझ सकोगे। चित्त एक शीशे के पर्दे की तरह है जो सत्य को आवृत किये हुए है। यह धूल और गंदगी—वासनाओं की गंदगी—से ढँक दिया गया है। निःस्वार्थ कर्म शीशे के पर्दे पर जमी हुई धूल को हटाता है और इसे पारदर्शी बनाता है। तब क्या होता है? ज्यों ही शीशे का पर्दा पारदर्शी हो जाता है त्यों ही हम सत्य का साक्षात्कार करते हैं। व्यावहारिक रूप में पर्दा अस्तित्व रहित हो जाता है। यह सत्य-दर्शन में बाधा नहीं डालता, बल्कि बाधा डाल ही नहीं सकता है। उच्चतम सत्य से हमलोगों को अलग करने वाली कोई पृथक् एजेंसी नहीं है। श्रीरामकृष्ण ने कहा कि शुद्ध बुद्धि और शुद्ध आत्मा एक और समान हैं। यहाँ बुद्धि का अर्थ चित्त या अन्तःकरण या आधुनिक शब्दों में जिसे हम मन कहते हैं, है। केवल रामकृष्ण ने ही यह नहीं कहा है। शास्त्र भी इस मत का समर्थन करते हुए कहते हैं कि जब चित्त पूर्णतः शुद्ध हो जाता है तब हम परम तत्व के साथ एक हो जाते हैं।

कहा जाता है कि अज्ञान केवल ज्ञान से दूर किया जा सकता है और ज्ञान का अर्थ है ब्रह्माकार वृत्ति, मन की एक विशेष अवस्था। केवल यही अज्ञान को दूर कर सकती है। यह विद्वानों के विवेचन योग्य बड़ा ही शास्त्रीय विषय है जिसका हमारे व्यावहारिक प्रयोजन के लिए विशेष अर्थ नहीं है।

जब चित्त पूर्णतः शुद्ध हो जाता है। तब यह अ-चित्त या अ-मन हो जाता है—**यत्र मनः अमनो भवति।** (माण्डुक्य कारिका, ३. ३१. ३२.) चित्त या मन को अ-चित्त या अ-मन क्या बनाता है? स्वामी विवेकानन्द के अनुसार शुद्धिकरण की प्रक्रिया स्वयं ही मन को

अ-मन बना देती है। तब हमें परम तत्व से विलग करने वाला कुछ नहीं बच जाता है, और इस प्रकार हमें सत्य की अनुभूति होती है या सत्य का प्रत्यक्षानुभव होता है और हम सत्य से मिलकर एक हो जाते हैं। शंकर इस सिद्धान्त को नहीं मानते क्योंकि उन्हें ज्ञान मार्ग की श्रेष्ठता स्थापित करनी है।

सगुण और निर्गुण का अनुभव

श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द के मत के अनुसार इन दोनों मार्गों में से प्रत्येक मार्ग हमें परम तत्व तक ले जाने में पूर्ण समर्थ है। किन्तु, शंकर के अनुसार भक्ति भी किसी को अद्वैत के उच्चतम लक्ष्य तक नहीं ले जा सकती है क्योंकि इस मार्ग में तुम ईश्वर से अपने को कुछ दूर रखते हो और भक्त बने रहते हो इसलिए भक्ति से प्राप्त अनुभूति में द्वैत पूर्ण रूप से विलीन नहीं होता है।

मान लो कि द्वैत नहीं मिटता है। तो इससे क्या क्षति होती है? यदि द्वैत किसी प्रकार हमें निम्न स्तरीय बनाता हो तभी हमें इसका त्याग करना चाहिए। यदि यह ऐसा नहीं करता है, बल्कि इसके बदले में यह ईश्वर का या ईश्वर में निहित सत्य का पूर्ण दर्शन कराता है, तब इसमें बुरा क्या है?

भक्ति मार्ग में हम ईश्वर शब्द का प्रयोग करते हैं जब कि ज्ञान मार्ग में हम ब्रह्म शब्द का प्रयोग करते हैं जिससे जगत् की सृष्टि होती है, उसकी स्थिति बनी रहती है और जिसमें जगत् का विलय होता है। परम तत्व या ईश्वर के विषय में इन दोनों सिद्धान्तों में कुछ शास्त्रीय भेद हो सकते हैं जो अपनी तार्किक क्षमता और योग्यता के प्रदर्शनार्थ किसी पंडित के लिए उपयोगी हो सकते हैं किन्तु व्यावहारिक उपयोगिता की दृष्टि से इस भेद का कोई अर्थ नहीं है।

श्रीरामकृष्ण के विचारानुसार भक्त परम प्रेम के अनुभव का, अपने इष्ट देवता के अनुभव का आनन्द पुरी तरह सदैव ले सकता है। शंकर कहते हैं कि जहाँ कहीं द्वयता होती है, वहाँ यह संभावना रहती है—संभावना क्यों, निश्चयता रहती है—कि अनुभव एक संधि या संयोग है और इसलिए कभी न कभी इसे अवश्य बिखर जाना है।

अनिवार्य रूप से ऐसा नहीं होता है, यद्यपि वस्तु मूल कजगत् का यह विधान है जिससे हम परिचित हैं। यह संसार अशुद्ध है। किन्तु, एक ऐसी स्थिति हो सकती है जहाँ अशुद्धता पूर्णतः खो जाय और उस स्थिति में वे विधान जो यहाँ लागू होते हैं, वहाँ लागू नहीं होंगे। इसलिए जो भी तर्क हम यहाँ प्रयुक्त करते हैं उस स्थिति में प्रयोग के योग्य नहीं रहेंगे। शंकर को भी उस स्थिति को स्वीकार करना पड़ा है जहाँ तर्क का अतिक्रमण हो जाता है। शंकर के अद्वैत सिद्धान्त को प्रमाणित करने के लिए भी तर्क का अतिक्रमण करना होगा। जब ब्रह्माकारा वृत्ति आती है, जब किसी को अद्वयता का भाव होता है (ध्यान दो, यह एक भाव है) वह भाव अज्ञान को पूरी तरह दूर कर देता है। लेकिन उस भाव को कौन दूर करता है? आखिरकार यह एक भाव है, एक वृत्ति है, इसीसे यह भी कुछ भेद बनाये रखती है। यह भेद कैसे मिटता है? यह स्वयं नहीं मिट सकता। इसे दूर करने वाली कोई एजेंसी (अभिकर्तृत्व) अवश्य होनी चाहिए। वह एजेंसी क्या है? शंकर कहते हैं—'ओह, जैसे निर्मलीफल या फिटकिरी पानी की सारी अशुद्धता को मिटा देती है और स्वयं उसी पानी में घुल जाती है उसी प्रकार यह वृत्ति स्वयं दूर हो जाती है।' किन्तु यह कोई व्याख्या नहीं है। यह शंकर का अज्ञान नहीं है। मैं यह नहीं कहना चाहता हूँ। उन्होंने एक अवस्था को स्थापित करना चाहा और उन्होंने ठीक-ठीक स्थापित किया। किन्तु यह विषय यहाँ नहीं है। विषय है शंकर और स्वामी जी में भेद। यदि शंकर द्वारा दिखायी गयी ज्ञान की प्रक्रिया अज्ञान को पूर्णतः मिटा सकती है और परम तत्व की अनुभूति किसी को करा सकती है तथा परम तत्व से एकाकार करा सकती है तब क्या कर्म भी वैसा ही नहीं कर सकता है? निश्चय ही कर्म से

हमारा तात्पर्य यहाँ निःस्वार्थ भाव से किये गये कर्म, निष्काम कर्म से है।

कर्म और प्रत्यक्षानुभूति

शंकराचार्य स्वीकार करते हैं कि निष्काम कर्म चित्त को शुद्ध करता है। केवल निष्काम कर्म क्यों? सकाम कर्म भी कुछ दूर तक सहायता करता है। इसीसे वेदों में इसे स्थान दिया गया है, क्योंकि सकाम कर्म के लिए भी हमारी पाशविक प्रवृत्तियों पर कुछ संयम की आवश्यकता होती है। पाशविक प्रवृत्तियों पर संयम किये बिना हम वैदिक कर्म कर ही नहीं सकते हैं। इसलिए ऐसे कर्म का भी, जिनका संसारिक वस्तुओं की प्राप्ति के लिए—अभ्युदय के लिए— वेदों ने निर्देश किया है, अच्छा प्रभाव पड़ता है। यह मन को शुद्धतर बनाता है और मनुष्य को अपने ऊपर कुछ नियंत्रण करने की शक्ति प्रदान करता है। जब यह प्रक्रिया धीरे-धीरे चलती रहती है तब व्यक्ति निःस्वार्थ हो जाता है, और जब कोई पूर्णतः निःस्वार्थ हो जाता है, ध्यान दो मैं निःस्वार्थ शब्द पर जोर दे रहा हूँ, तब उसका चित्त स्वयं अतिक्रमण कर जाता है, ऊँचा हो जाता है। वह समस्त अशुद्धताओं से मुक्त हो जाता है और परम तत्व को फिर छिपा नहीं पाता है। इस तथ्य को हमें ठीक से समझ लेना चाहिए। स्वामी विवेकानन्द जी के निष्काम कर्म का यही भाव है। उन्होंने इसी पर जोर दिया है और यह श्रीरामकृष्ण के उपदेशों से मेल रखता है। ठाकुर भी इस पर विश्वास करते हैं। दर असल, स्वामीजी ने इस पर इतना अधिक जोर दिया है कि कभी-कभी हमलोग सोचते हैं कि यह आवश्यक नहीं था। लेकिन अगर हम स्वामीजी के समय की ओर मुड़कर देखें तो हम पायेंगे कि उस समय लोगों की यह धारणा थी कि किसी भी प्रकार कर्म का अर्थ है माया में फंसना। मैं तुम्हें एक मनोरंजक उदाहरण दूंगा।

एकबार उत्तरकाशी में एक साधु को हैजा हो गया। जब उस क्षेत्र के दूसरे साधुओं को यह खबर मिली तब वे यह कहते हुए वहाँ से भाग गये कि इस आदमी से उनके ध्यान में विक्षेप उत्पन्न होगा, विघ्न पैदा होगा। निश्चय ही उनका ध्यान आश्चर्यजनक रहा होगा। अगर वे उस आदमी की सेवा करने गये तो ध्यान में एकाग्र नहीं हो पायेंगे। उस आदमी में उनकी आसक्ति हो जा सकती है। इसलिए उन्होंने सोचा कि उस आदमी के प्रति आसक्त होने से अच्छा है भिक्षा के प्रति आसक्त होना जो उन्हें अन्यत्र मिलेगी! कर्म के सम्बन्ध में इस प्रकार की गलत धारणा कुछ वर्षों पहले सामान्य हो गयी थी।

संसार से पृथकत्व

स्वामीजी ने देखा कि हमारे देश में, लोगों में संसार से दूर रहने की तीव्र भावना है ताकि वे ज्ञानी हो सकें। जो लोग भक्ति-मार्गी थे, वे भी इसी गलत धारणा के कारण संसार से पृथक् रहने का प्रयास कर रहे थे। यह न केवल धार्मिक आचरण नहीं हैं बल्कि निश्चय ही अधार्मिक और स्वार्थपूर्ण भी है। यह हमारे भीतर के सत्य पर केवल अधिक से अधिक आवरण डालता जायगा। यह केवल अज्ञानता को और अधिक सघन तथा अभेद्य बना देगा। इसीसे स्वामी जी निष्काम कर्म पर इतना अधिक जोर देते हैं। स्वामीजी ने हमलोगों से कहा कि निष्काम कर्म से देश केवल आध्यात्मिक रूप से ही नहीं बल्कि भौतिक रूप से भी समृद्ध होगा। जिसे बहुत लोग सत्व होना समझते हैं वह असल में गहन तमस है, केवल सत्व का स्वांग भरना है। इसका सावधानी पूर्वक भेद करना होगा। ये दोनों एक-सा दीखते हैं लेकिन गुण में दो छोरों की दूरी है। हमें सावधानी पूर्वक इन चीजों को समझना और याद रखना चाहिए।

शंकर और स्वामीजी के विचारों में स्वल्प अन्तर

शंकर और स्वामीजी में प्रकट रूप से सैद्धान्तिक भेद हो सकते हैं, लेकिन वस्तुतः इनमें कोई अन्तर नहीं है। शंकर निष्काम कर्म को चित्त-शुद्धि के साधन के

रूप में स्वीकार करते हैं और स्वामीजी भी ऐसा ही करते हैं। शंकर की दार्शनिक पद्धति के अनुसार अज्ञान को मिटाने के लिए ज्ञान आवश्यक है। ज्ञान से वृत्तिज्ञान, आत्मानुभव प्राप्त होता है। केवल सत्य का विचार ही हमारे आत्म विषयक अज्ञान को दूर कर सकता है। इसी से यह कहा गया है कि विचार के रूप में यह ज्ञान—ब्रह्माकार वृत्ति—परम तत्व की अनुभूति के लिए अनिवार्य रूप से प्रत्यक्ष कारण है। यही शंकर कहते हैं। स्वामीजी इन विस्तृत विवरणों में नहीं जाते। बल्कि कहते हैं—चित्त को शुद्ध करो और तुम प्रत्यक्षानुभूति प्राप्त करोगे। तुम्हारे और सत्य के बीच कोई व्यवधान करनेवाला नहीं है। तुम ही सत्य हो: चित्त जब शुद्ध हो जाता है, तब स्वयं सत्य से, परम आत्म, से एक हो जाता है। क्योंकि शुद्ध बुद्धि और शुद्ध आत्मन् एक और समान वस्तु हैं, जैसा कि श्रीरामकृष्ण ने कहा है। जब तुम पूर्ण रूप से चित्त को शुद्ध कर लेते हो तब तुम वही हो जाओगे जिसकी खोज कर रहे हो। तुम्हीं आत्म हो, शुद्ध आत्मन्। स्वामीजी ने यही सीख दी है।

★

कर्म ही पूजा है

आओ, हम प्रार्थना करें—"तमसो मा ज्योतिर्गमय"—

"कृपामयी ज्योति, रास्ता दिखाओ!" और अन्धकार में से एक किरण दिखायी देगी, पथ-प्रदर्शक कोई हाथ आगे बढ़ आयगा। आओ हममें से प्रत्येक, दिन और रात उन करोड़ों पददलित भारतीयों के लिए प्रार्थना करे, जो गरीबी, पुरोहितों के छल और नाना अत्याचारों द्वारा जकड़े हुए हैं। उन्हीं के लिए दिन-रात प्रार्थना करो। मैं उच्च और धनिकों की अपेक्षा उनको उपदेश देने की अधिक चिन्ता करता हूँ, मैं दार्शनिक नहीं हूँ, तत्त्ववेत्ता नहीं हूँ और कोई सन्त भी नहीं हूँ। परन्तु मैं दरिद्र हूँ और दरिद्रों को प्यार करता हूँ। दरिद्रता और अज्ञान के गर्त में सदा से डूबे हुए इन बीस करोड़ नर-नारियों के दुःख को कौन अनुभव करता है? मैं उसी को महात्मा कहूँगा जो इनके दुःखों का अनुभव करता है। किसके हृदय में उनके दुःखों के लिए टीस होती है? उन्हें न कहीं प्रकाश मिलता है, न शिक्षा। उन्हें प्रकाश कौन देगा—कौन उनको शिक्षा देने के लिए उनके द्वार-द्वार भटकेगा? इन्हीं लोगों को तुम अपना ईश्वर समझो—निरन्तर इनका ध्यान करो, उनके लिए काम करो, उनके लिए निरन्तर प्रार्थना करो—ईश्वर तुम्हें मार्ग दिखायगा।

—स्वामी विवेकानन्द

(श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर से प्रकाशित पुस्तक 'शिक्षा' से सानुमति)

राम, धोबी और सीता-वनवास का अध्यात्मिक रहस्य

स्वामी शक्तिवालक

राम, धोबी और सीता-वनवास का आध्यात्मिक रहस्य थोड़ा स्पष्ट कर देता हूँ।

भौतिक जगत् में धोबी का काम है कपड़े की सफाई (धुलाई) करना। इसी तरह व्यवहार में निरंतर गन्दे होने वाले सूक्ष्म शरीर की सफाई के लिए करुणा से बढ़कर कोई अन्य धोबी नहीं। आध्यात्मिक जगत् में करुणा ही धोबी है। श्रद्धा जल है। जप साबुन है। ध्यान पाट (कपड़ा धोने का काष्ठ) है। वैराग्य नमी सुखाने वाली धूप है। विषयों के प्रति आसक्ति ही कालिख है और झीनी वासना ही धूल है।

कालिख और धूल की गन्दगी में इतना ही फर्क है कि कालिख स्पष्ट रूप से दिख जाती है किन्तु धूल की गन्दगी स्पष्टतः नहीं दिखती। धूल से गंदे होने वाले कपड़े भी स्वास्थ्य के लिए हानिप्रद होते ही हैं। अतः उत्तम स्वास्थ्य की अभिलाषा करने वाले मनुष्य के लिए यह आवश्यक है कि धूल से गन्दे हुए कपड़े की सफाई करे।

विषयासक्ति से इन्द्रियों की गुलामी बनी रहती है और झीनी वासना से मानसिक गुलामी बनी रहती है। विषयासक्ति से ऊपर उठा हुआ व्यक्ति प्रतिष्ठा तो पाता है, परन्तु झीनी वासना के पूर्णतः क्षय नहीं होने से वह अपनी अस्मिता वृत्ति से सम्बन्ध-विच्छेद नहीं कर पाता। यह अस्मिता रूपी आवरण उसी तरह आंतरिक अशांति को बनाये रखता है जिस तरह धूल-कण से ढका हुआ कपड़ा—धारण करने वालों में ग्लानि का भाव बनाये रखता है।

विषयासक्ति से मुक्त होने एवं इन्द्रियों की गुलामी से छूटने के लिए प्रथम स्तर का वैराग्य और साधना उपयुक्त है। प्रथम स्तर का वैराग्य और साधन व्यक्ति को मनः स्तर ने तो ऊपर उठा देते हैं, किंतु बुद्धि-स्तर से ऊपर नहीं उठा पाते। बुद्धि-स्तर से ऊपर उठने के लिए भी विराग की आवश्यकता तो है, किन्तु दोनों विराग में काफी अन्तर हैं। अन्तर इस प्रकार हैं—

प्रथम स्तर का वैराग्य——द्वितीय स्तर का वैराग्य

उछल-कूद है (हनुमान है)—संयम है (लक्ष्मण है)

भोग-प्रवृत्ति (लंका का त्याग-सहजता(अवध) में निवास

वैराग्य रूपी हनुमान माया रूपी सीता (मन) को इंद्रियों (रावण) से छुड़ाता है। परन्तु, जीवात्मा (राम) उसकी अग्नि-परीक्षा करके बुद्धि रूपी सीता को अंगीकार कर लेता है। अग्नि-परीक्षा से इतना जरूर हुआ कि लंका में बहुत काल तक रहने से सीता में जो भय, दीनता, ग्लानि, द्वेष, क्रोध, निराशा और नीरसता आ गयी थी वह जल कर भस्मीभूत हो गयी, परन्तु सीता का शारीरिक आकार और रूप तो वही रहा! सीता के द्वितीय वनवास में दोषी सीता नहीं थी, दोषी थे उसका रूप और आकार।

जिसे सावधानी से वर्तना समझा जाता है वही तो राम के लिए मानसिक तनाव (टेंशन) बना हुआ था। मानसिक तनाव से बढ़कर अशान्ति और दुःख है क्या आध्यात्मिक पुरुष के लिए! सीता का साहचर्य राम के लिए उपयुक्त हैं यह समझाने के लिए राम के पास प्रमाण था—सीता की अग्नि-परीक्षा। यह प्रमाण दूसरों (समाज) को समझाने के लिए जितना उपयुक्त था

स्वयं को भुलाने के लिए भी उतना ही उपयुक्त था। सीता की अग्नि-परीक्षा को अयोध्या के किसी अन्य व्यक्ति ने भले ही न देखा हो किन्तु साथ रहनेवाले लक्ष्मण ने तो देखा है। लक्ष्मण उस प्रमाण का ठोस गवाह है। अतः राम निश्चिन्त तो है परन्तु पूर्ण निश्चित नहीं है। इसका प्रधान कारण है यह कि लक्ष्मण प्रत्यक्ष गवाह तो है परन्तु है तो राजभवन में रहनेवाला पदाधिकारी ही। वह स्वतंत्र प्रजा तो नहीं है। इसलिए राम को लक्ष्मण के सामने वैसे ही रहना पड़ता है जैसे एक ज्येष्ठ भ्राता को रहना चाहिए—अनुशासन में, आचार-बद्धता में। यह अनुशासन और आचार-बद्धता राम को दिन के उजाले में राजभवन से बाहर निकलकर सीधे प्रजा तक पहुँचने नहीं देती। सीता और लक्ष्मण की रेखा को वह पार नहीं कर सकता। अतः रात्रि के चन्द्र-प्रकाश में राम सीता और लक्ष्मण को विश्राम की स्थिति में छोड़कर सहजता पूर्वक महल से बाहर उतरता है—प्रजा की झोपड़ियों तक जाता है। यह जाना राम के लिए अहितकर नहीं कहा जा सकता, क्योंकि राम अब केवल राम नहीं हैं, अब राजा राम है। राजा का एकमात्र फर्ज है प्रजा की सेवा। धोबी के कहने से राम ने सीता को वनवास दिया—ऐसा नहीं कहा जा सकता। धोबी ने वस्तु-स्थिति बतायी थी, वनवास देने को तो नहीं कहा था! हाँ, यह जरूर हुआ कि धोबी के वस्तु-स्थिति व्यक्त करने से राम की पूर्व स्मृतियाँ उमड़ पड़ीं। अब राम ने सीता को वनवास देने का निर्णय किया।

इस निर्णय के पक्ष-विपक्ष के लिए राम ने धोबी को दरबार में नहीं बुलाया, क्योंकि राम जानते थे—धोबी के पास कोई गवाह नहीं। धोबी का गवाह स्वयं श्रोता राम है। धोबी का निर्णायक (पालक), स्वयं राजा राम है। अतः श्रोता राम जो सदैव निष्पक्ष है, तटस्थ है, सहज है, राजा राम से अपील करके निर्णय कराता है। राजा राम का निर्णय होता है—राजा का पहला फर्ज है प्रजा की सेवा, उसकी भावनाओं की रक्षा। निर्णयोपरान्त राम ने सीता को जंगल भेजा। जब सीता को लंका से लाना था तब राम ने हनुमान को आदेश (प्राथमिकता) दिया, किन्तु जब सीता को पुनः वन में छोड़ना था तब राम ने लक्ष्मण को आदेश (प्राथमिकता) दिया। दोनों में एक अन्तर और है—हनुमान को सीता के साथ लंका से वापस लाया गया, परन्तु लक्ष्मण को आदेश मिला सीता को जंगल में छोड़ कर अकेले वापस लौटने का। साधक-सिद्ध को ग्रहण करने योग्य यही विषय मुख्य है। मनः स्तर से ऊपर उठने में वैराग्य सहायक है और यह वैराग्य बुद्धि स्तर—ऋतम्भरा तक उसका साथी है। परन्तु, बुद्धि स्तर से ऊपर उठने में संयम सहयोगी है।

आत्मा की स्वरूप-स्थिति में जाने वाले के लिए संयम बुद्धि का साथ छोड़ देता है। स्वरूप-स्थिति वाला व्यक्ति स्वयं की बुद्धि की उपयोगिता में समर्थ होता है, किन्तु उसमें संयम का कभी अभाव नहीं होता। संयम आत्मा का गुण है, न कि बुद्धि का स्वभाव। इसलिए संयम से बुद्धि का त्याग संभव है। परन्तु बुद्धि से संयम सभव नहीं। मन से शासन हो सकता है। बुद्धि से अनुशासन हो सकता है; स्वयं के प्रति या दूसरों के प्रति। परन्तु मन या बुद्धि से संयम नहीं हो सकता है। संयम आत्मा का गुण है, अतः इसके लिए एकमात्र उपाय है आत्मा के ऊपर से मन और बुद्धि के आवरण को हटा देना। पहले ही कह चुका हूँ कि संयम बुद्धि का गुण नहीं, अतः बुद्धि से थोपे गये संयम में अनुशासन रहता है परन्तु स्वाभाविकता नहीं रहती। बुद्धि का (बुद्धि पर थोपा गया) संयम व्यक्ति को ज्ञानी (वृद्ध) बना सकता है परन्तु भक्त (शिशु) नहीं बना सकता।

भक्त या शिशु बनने के लिए संयम नहीं छोड़ना होता, बुद्धि छोड़नी होती है। बुद्धि को छोड़ने मात्र से उस पर आरोपित गुण का भी त्याग हो जाता है। शेष बच जाती है—आत्मा, सहजता और सरसता। संयम उसका (आत्मा का) स्वाभाविक गुण है ही, अतः संयम के लिए किसी स्मृति की आवश्यकता नहीं।

स्मृति युक्त संयम अनुशासन कहलाता है, संयम

नहीं। संयम वह है जिसमें स्मृति का संबंध नहीं। इसे और स्पष्टता से समझें। अनुशासन यह कहता है कि सब में समान भाव रखो। समान भाव की दृढ़ता के बिना समान व्यवहार संभव नहीं। भाव की दृढ़ता तभी संभव है जब किसी एक भाव का आश्रय लेकर व्यक्ति अपने को उस भाव में पूर्णतः रंग ले—पागल बना ले, अन्यथा भाव की दृढ़ता के अभाव में व्यक्ति अन्दर से कुछ और बाहर कुछ रह जाता है। अर्थात् विषमता बनी रहती है। यह विषमता अशान्ति और मानसिक तनाव का कारण बनती है। एक उदाहरण लें। अनुशासन यह कहता है कि सबमें मातृ भाव रखो। किंतु, वह अन्दर से बराबर भयभीत रहता है कि कहीं यह भाव किसी पात्र या परिस्थिति-विशेष से खंडित न हो जाय, अतः व्यवहार में सब के प्रति समान रूप से उतर नहीं पाता। जिस तरह दिन के उजाले में अनुशासनप्रिय व्यक्ति किसी नवयुवती को कहीं पहुँचाना हो तो निःसंकोच भाव से पहुँचा देगा। परन्तु, रात के समय उसी युवती को कहीं पहुँचाना हो तो वह साहस नहीं कर पायगा। अब उसे अपने संयम की प्रामाणिकता के लिए एक और व्यक्ति चाहिए। वह पहुँचाने जायगा लेकिन एक और व्यक्ति को साथ ले लेगा; ऐसा नहीं कि उसे रास्ते का भय है। अगर उससे पूछा जाय कि पहुँचाना युवती को है फिर इस दूसरे व्यक्ति को साथ क्यों ले रहे हो, तो यही उत्तर देगा कि समाज बुरा है, कहीं मुझे गलत न समझ ले। समाज बुरा है, ऐसी बात नहीं। वस्तुतः उस व्यक्ति को अपनी मनोदशा का ही पता नहीं। क्या पति-पत्नी एक साथ नहीं चलते? क्या भाई-बहन, पिता-पुत्री, माँ-बेटा एक साथ नहीं चलते? परन्तु, उन्हें तो कभी भय नहीं होता। फिर एक अनुशासित व्यक्ति के लिए युवती के साथ अकेले सफर भय का कारण क्यों बन रहा है? इसका प्रधान कारण है— उस व्यक्ति के अन्दर उस युवती के प्रति मातृभाव के साथ यह स्मृति छिपी हुई है कि यह परायी स्त्री है। परायेपन का यह विचार उसे स्थिर नहीं रहने देगा, परायेपन का विचार उसे स्वाभाविक नहीं रहने देगा।

वह अनुशासित व्यक्ति असल में भयभीत समाज से नहीं है, वह भयभीत स्वयं से है— कहीं उसकी स्थिरता और स्वाभाविकता खंडित न हो जाय। उसकी स्थिरता और स्वाभाविकता आरोपित है इसलिए उसे आधार चाहिए और वह आधार उसे दिन में मिलना संभव है। दिन की यात्रा में उसे रास्ते में कोई न कोई मिलता रहेगा, जिससे वह कह पायगा—इस माता जी को भय लग रहा था। रास्ता अनजाना है। अतः मैं पहुँचाने जा रहा हूँ। सुनने वाले क्या सोच रहे हैं इसकी उसे जानकारी नहीं. न जानने की वह अपेक्षा ही करता है। वस्तुतः अनजाने में ही वह इन मिलने वाले लोगों को अपनी मातृ-भावना की प्रबलता का माध्यम बना रहा है। चूँकि वह इस बात से भयभीत है कि अगर मातृ भावना प्रबल न रही तो परायेपन का विचार हावी हो जायगा। लेकिन रात्रि के समय कोई उसे रास्ते में नहीं मिलेगा जिसको वह माध्यम बना सके मातृभाव को प्रबल बनाये रखने के लिए। अतः वह एक व्यक्ति को और साथ ले लेता है—ऐसा कहते हुए कि चलो इन माता जी को पहुँचा आया जाय।

लेकिन आत्मस्थित स्वाभाविक संयम से रहनेवाले व्यक्ति के लिए ऐसी बात नहीं। जैसे शिशु किसी की राह का साथी नहीं बन सकता, वह किसी को कहीं पहुँचाने का भार नहीं ले सकता, उसी तरह राह चलने वाले स्वयं संयमित पुरुष को अपना बना लेते हैं। 'डूबते को तिनके का सहारा' की भाँति युवती या वृद्ध स्त्री, या पुरुष, शिशु को गोद में लेकर यात्रा करे इससे शिशु को कोई फर्क नहीं पड़ता। किन्तु साथ ले जाने वाले में फर्क पड़ जाता है। वह अकेलेपन की स्मृति से दूर रहता है जब तक शिशु साथ है। भय का कारण अकेलापन है। भय का कारण स्वयं की स्मृतियाँ हैं।

सफर दोनों अवस्था में हो सकती है—वृद्ध के साथ भी और शिशु के साथ भी। किन्तु दोनों अवस्थाओं की मनः दशा और परिणाम में अन्तर पड़ जायगा। दुर्घटना के समय युवती अनुशासित व्यक्ति (वृद्ध) से अपनी

सुरक्षा की अपेक्षा करेगी लेकिन संयम-प्रधान-आत्मस्थिति (शिशु) को बचाने के लिए युवती अपने को दुर्घटना-ग्रस्त भी कर लेगी। उस समय उसको न भय रहेगा न जीवन का लोभ। उद्देश्य रहेगा शिशु की रक्षा का। इतना साहस उसमें कहाँ से आया ? इतनी बड़ी कुर्बानी करने को वह क्यों तैयार हुई ? इसका मुख्य कारण है—उसकी समस्त वृत्तियाँ सिमट कर शिशु पर केन्द्रित हो चुकी हैं, उसके चिंतन का एक मात्र विषय रह गया है शिशु। वह शिशु जिसको अपने संयम (शिशुपन) के लिए किसी स्मृति का आधार नहीं है। उसका शिशु-पना स्वाभाविक है, सहज है। यह स्वाभाविकता और सहजता ही किसी में सुरक्षा हेतु स्वयं की भी आहुति कर देने की प्रेरणा भर देती है।

एक भाव में रहने की अवस्था :
हनुमान की निर्भाव (भावातीत) रहने की अवस्था

राजा राम का एक भाव में होकर वर्तनेवाला सेवक अनुशासन के अधीन नहीं रह पाता। ज्यों-ज्यों उसमें एक भाव की दृढ़ता होती जाती है त्यों-त्यों वह हृदयप्रधान होता जाता है। हृदयप्रधान व्यक्ति परमात्मा का प्रिय बन जाता है। ज्यों-ज्यों वह परमात्मा का प्रिय बनता जाता है त्यों-त्यों उसमें संयम आने लगता है। एक भाव को लेकर हृदय-गुहा के मार्ग से उस परम चैतन्य में प्रवेश कर विलीन हो जाना ही आत्मरूपता है। इस आत्मरूपता में संयम तो है पर अनुशासन नहीं है।

अनुशासन हृदय का विषय है भी नहीं। अनुशासन मस्तिष्क का विषय है। इसीलिए एक भाव में वर्तने-वाला व्यक्ति अनुशासन से दूर होता जाता है, परन्तु संयम के नजदीक होता जाता है। एक भाव में वर्तने-वाले हनुमान ने अनुशासन की उपेक्षा की और अपने भाव को बनाये रखा। परमाराध्या सीता पेड़ के नीचे थीं फिर भी हनुमान पेड़ के ऊपर बैठा रहा। कहाँ रहा अनुशासन ? अपनी पूँछ को लपेट, कुटीनुमा बना-कर राम-लक्ष्मण को उसमें ढँक दिया और खुद उसके ऊपर पाँव रखकर बैठा रहा। कहाँ रहा अनुशासन ? विजयोपरान्त राज्याभिषेक होने पर श्रीराम के उपलक्ष्य में सीता जी द्वारा भेंट किये गये हीरे के हार के दानों को भरी सभा में ही हनुमान दाँत से फोड़ने और फेंकने लगा। कहाँ रहा अनुशासन ? उसने तनिक भी परवाह नहीं की कि यह उपहार है, यह कीमती है, इसके तोड़ने से सीता का अपमान होगा, राज्य सभा का अपमान होगा, मेरी मूर्खता सिद्ध होगी। उस चिन्ता थी तो एक-मात्र अपने भाव की—कहीं इस उपहार के चिंतन से मेरा भाव न खंडित हो जाय। भाव की रक्षा अगर अपमान से होती है तो यह भी हनुमान को प्रिय है। भाव की रक्षा अगर सम्मान से होती है तो यह भी हनुमान को प्रिय है।

हनुमान की सीता हनुमान की माता (मातृ स्वरूप) है। और राम की सीता राम की अर्द्धाङ्गिनी है। सीता को रावण से मुक्ति दिलाना दोनों का उद्देश्य है—हनुमान का भी और राम का भी। परन्तु, हनुमान की कोई शर्त नहीं। वह सीता को रावण से छुड़ाकर लंका से बाहर लाता है। उसी तरह भक्त बिना शर्त अपने आराध्य या गुरु को अपने हृदय में धारण कर लेता है न कि शर्त की अपेक्षा करता है।

राम सीता के साथ शर्त रखते हैं अग्नि परीक्षा की। इसी तरह ज्ञान की ओर बढ़नेवाला साधक स्थूल बुद्धि और मन की इन्द्रियों से मुक्त कर लेता है परन्तु बुद्धि के साथ उसका सम्बन्ध तब तक बना रहता है जब तक वासनाएँ क्षीण नहीं हो जातीं।

हृदय प्रधान (भक्त) को कोई संशय नहीं होता किन्तु बुद्धि-प्रधान (ज्ञानी) को बार-बार संशय की गुंजाइश रहती है।

दूसरों से अनुशासन की जबतक अपेक्षा की जाएगी तब तक व्यावहारिक बुद्धि की उपयोगिता महसूस होगी। किन्तु, स्वयं के प्रति जब अनुशासन की अपेक्षा की जाएगी तो थोड़े ही दिनों के अभ्यास से बुद्धि की अनुपयोगिता सिद्ध हो जाएगी। जब व्यक्ति को

व्यवहारिक बुद्धि की अनुपयोगिता का भान होने लगे तो समझना चाहिए कि उसकी आज तक की साधना अब फलीभूत होनेवाली है। परमात्मा के राज्य में प्रवेश होने के लिए अब उसे सदेश मिलने ही वाला है।

स्वय के प्रति अनुशासन से व्यावहारिक बुद्धि की अनुपयोगिता शीघ्र ही समझ में आ जाती है। व्यावहारिक बुद्धि की अनुपयोगिता भली भाँति समझ में आ जाने पर ही व्यक्ति उससे ऊपर उठकर आध्यात्मिक बुद्धि—ऋतम्भरा—में सतत स्थिर रहने का दृढ़ संकल्प करता है। अध्यात्मिक बुद्धि (ऋतम्भरा) में जब स्वय का कोई प्रयास शेष नहीं रह जाय—ऐसी प्रयासहीन अवस्था में व्यक्ति समष्टि बन जाता है। जहाँ कोई सशय नहीं, कोई भय नहीं, कोई वासना नहीं, कोई अपना नहीं, कोई पराया नहीं।

वस्तुतः व्यावहारिक बुद्धि का त्याग ही सीता का त्याग है। त्यागी गयी सीता पुनः अयोध्या नहीं लौटी। वह अपने पीछे छोड़ गयी दो सन्ततियाँ—लव और कुश (क्षण और कण)। लव का अर्थ समय का छोटा भाग और कुश का अर्थ तिनका अर्थात् लघु पदार्थ या परमाणु अथवा कण। जिस प्रकार लव और कुश में राम अपना अस्तित्व मान कर उन्हें अपना राज्य सौंप निश्चिन्त हो जल-समाधि ले लेते हैं उसी तरह साधक व्यावहारिक बुद्धि के सारभूत आधार में (क्षण और कण में) अपने या अपने प्रभु की सतत विद्यमानता का भान करता है। जब साधक हर क्षण और हर कण में उस परम चैतन्य के होने का अनुभव करता है तब निश्चित हो उस परम चैतन्य में के लिए स्वयं को विलीन कर देता है।

यह विलय बूँद के समुद्र में विलय की भाँति है, जहाँ बूँद का अपना कोई अस्तित्व नहीं। ऐसा जीव आज से मुक्त हुआ। परमज्ञानी पूर्णतः निर्भाव होता है, तटस्थ होता है। उसके लिए न कोई अपना है न पराया है, न कुछ सुन्दर है न असुन्दर है, न कुछ शुभ है न अशुभ है, न कुछ त्याज्य है न कुछ ग्राह्य है।

वासना रहित होने से कर्म में प्रवृत्ति या उत्साह नहीं रहता। फलाकांक्षा रहित होने में कोई चिन्तन नहीं। भोग प्रवृत्ति का अभाव होने से हर्ष-विषाद नहीं। जो है सहज है, स्वाभाविक है। ऐसे सहज स्वाभाविक परम ज्ञानी में आत्मीयगुण संयम उसी तरह आ जाता है जिस तरह पहाड़ों में होने वाली वर्षा से झरने स्वतः फूट पड़ते हैं। आवश्यकता झरने बनाने (रास्ते बनाने) की नहीं आवश्यकता है बारिश की। झरने स्वतः बनेंगे। उसी तरह संयम के लिए बुद्धिकृत अनुशासन की आवश्यकता नहीं। आवश्यकता है उस भौतिक बुद्धि के त्याग की जो विक्षेप पैदा करती है। विशेष आवरण के हटते ही संयम की धार अन्तस् प्रदेश से स्वतः प्रवाहित होगी।

ज्ञान—लाभ होने पर मनुष्य किस प्रकार रहता है, जानते हो?—जैसे शीशे के घर में बैठने से भीतर और बाहर दोनों ओर दिखायी देता है। ज्ञानी मनुष्य को अन्दर और बाहर सर्वत्र सर्वव्यापी चैतन्य का बोध होता रहता है।

—परमहंस श्रीरामकृष्ण देव

स्वामी विवेकानन्द का शक्तियोग

आचार्य डॉ० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा
अध्यक्ष, राजनीति विज्ञान विभाग
पटना विश्वविद्यालय

स्वामी विवेकानन्द महाराज अद्वैत वेदान्त के महान् प्रतिपादक थे। निर्विकल्प समाधि में अक्षर ब्रह्म का साक्षात्कार होता है, ऐसा वे मानते थे और उनके शिष्यों तथा अनुयायियों की ऐसी धारणा है कि इस प्रकार की असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था जीवन में कम से कम दो बार उनको परमहंस रामकृष्ण की कृपा से प्राप्त हुई थी। किन्तु ब्रह्मज्ञानी और जीवन मुक्त महात्मा होने के बावजूद स्वामीजी शक्ति की पूजा करते थे। यह कहना कि अपने अज्ञानी शिष्यों के सन्तोष के लिए वे ऐसा करते थे, ठीक नहीं होगा। स्वामी जी की निश्चित धारणा थी कि जबतक ब्रह्मवेत्ता शरीर धारण कर रहा है तबतक उसे धार्मिक कृत्यों का अनुष्ठान करना चाहिए।

काश्मीर यात्रा के प्रसंग में उन्होंने क्षीर भवानी के मन्दिर में विशेष रूप से यज्ञानुष्ठान किया था। अपने मुसलमान नाविक की चार वर्षों की कन्या का वे उमा के रूप में पूजन करते थे। अनन्तर एक ब्राह्मण पंडित की छोटी लड़की की भी वे उमा कुमारी के रूप में कुछ दिनों तक प्रति प्रातःकाल पूजन करते थे। इन तांत्रिक अनुष्ठानों को सम्पन्न करने में उनके शरीर को अत्यधिक कष्ट हुआ था।

विराट् शक्ति की मातृरूप में स्वामी जी ने उद-भावना की है। उनका पूर्ण विश्वास था कि यही मातृशक्ति उनके जीवन को परिचालित कर रही है। मातृशक्ति की दुर्ज्ञेय क्रिया-प्रणाली को लक्ष्य कर अपनी एक कविता में वे लिखते हैं—

"स्यात् दीप्तिमान ऋषि ने
जितना वह व्यक्त कर सका उससे अधिक देखा था,
कौन जानता है, किस आत्मा को और कब
माता अपना सिंहासन बनाएगी ?

कौन विधान स्वतंत्रता को बाँध सकता है ?
कौन पुण्य उसके (मातृशक्ति) ईक्षण को निर्दिष्ट
कर सकता है।

जिसकी यदृच्छा ही सर्वोत्कृष्ट नियम है,
जिसका संकल्प दुर्लंघ्य विधान है ?"

उनके प्रसिद्ध "अम्बास्तोत्र" में भी मातृशक्ति का विराट् स्तवन है। संसार रूपी जल, उसके द्वारा उत्ताल तरंगों में प्रवाहित (आधूर्णित) है। अविराम गति से वह कर्मफल का विधान कर रही है क्योंकि कर्मपाश की धारयित्री वही है। उसके स्वतंत्र इच्छापाश से धर्म, अकृत, कपाललेख, अदृष्ट, नियम आदि सभी उसके द्वारा नियंत्रित होते हैं। वह अमित शक्ति धारिणी है और जन्म-मरण के प्रवाह की भी विधात्री है। शत्रु, मित्र, स्वस्थ, अस्वस्थ आदि में वह समभाव रखती है। मृत्यु और अमृतत्व भी उसकी दया पर आश्रित हैं। वह अभय की प्रतिष्ठा और जगत् की एकमात्र शरण्या है। उसी के कलित विलास से मानव दुखसागर का संतरण कर संसिद्धि का लाभ करता है। इस अम्बास्तोत्र में उत्तुंग व्यक्तित्व सम्पन्न महाप्राण युगपुरुष विवेकानन्द

का सरल मधुर भक्तिभाव प्रकटित है।

शंकराचार्य जगत्प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता थे तथापि शिव के सम्बन्ध में रचित उनके मनोहारी श्लोक अतिशय लालित्यपूर्ण, भक्तिरसाप्लावित और मनोमुग्धकारी हैं। शक्ति की उपासना के लिए विरचित स्वामी विवेकानन्द का अम्बास्तोत्र भी बड़ा उदात्तभावनापूर्ण है।

काली को प्रलयकारिणी शक्ति के रूप में स्वामी जी ने एक कविता मे मूर्त किया है। काली के आतंक से तारिकाएँ तिरोहित हो गयी हैं, मेघ सघन हो गए हैं, अन्धकार गहन हो चला है और आँधियाँ भीषण रव करती हुई भूचाल ला रही हैं, वृक्ष उखड़ गये हैं और जलधि नीलाभ गगन से प्रलयङ्कर आलिंगन करने के लिए कातर हो रहा है। ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो भीषण निनाद करती हुई काल-मृत्यु चारो ओर नृत्य कर रही है। ऐसी कराल वेला में स्वामीजी मातृशक्ति का आवाहन करते हैं। मातृशक्ति विपुल है, आतङ्क ही उसका नाम है, मृत्यु ही उसका निःश्वास है और उसका पादप्रक्षेप जगती को प्रनष्ट कर रहा है। वह सर्वनाश विधायिनी कराल कालशक्ति है। जो दुःख और सकट को मधुर भाव से स्वायत्त कर सकता है, जो मृत्यु के दुर्धर्ष, भीषण, रोंगटे खड़े करने वाले रूप को अपन अंक में आश्लेष के लिए अपना सकता है उसी को मातृशक्ति काली अपना आश्रय प्रदान करती है।

"श्यामा का नृत्य" नामक एक दूसरी कविता में भी विवेकानन्द ने इसी आशय के भाव व्यक्त किये हैं। सुख की अभिलाषा और भोगैषणा माया के विलास हैं। इन बन्धनों को मानव मातृशक्ति के अनुग्रह से ही काट सकता है। मलयानिल की मधुर सुगंध से अपने सौध को सुवासित करने की मानव कल्पना करता है किन्तु करकापात और पंचभूतों के भीषण युद्ध की आशंका से ही वह काँप उठता है। फेनिल नदियों और झरनों का प्रवाह उसे प्रिय है, किन्तु अन्धकार जहाँ अन्धकार को उगल रहा हो वह वहाँ नहीं रहना चाहता। भावनाओं और उद्वेगों का अकृत्रिम विलास मानव के लिए मनोहारी है किन्तु, जहाँ अविराम गति से रक्तपात हो रहा हो और अश्व, हाथी, पैदल सेना दुर्दान्त मृत्यु के गर्भ में प्रवेश कर रही हो, वहाँ से वह हट जाता है। पृथ्वी का स्वर्णाभ, पुष्पमंडित फलगुम्फित रूप उसके मनोविनोद का साधन है किन्तु जब प्रलयकालीन धरित्री संसार को धँसाकर जलते हुए पाताल की ओर प्रयाण करती है तब संशय ग्रस्त मनुष्य विचलित हो उठता है। विवेकानन्द की ऐसी धारणा इस कविता में व्यक्त हुई है कि इस प्रकार का विभागीकरण आंशिक दृष्टि के अवलम्बन के कारण ही है। जब मानव ऐहिक भोगवासनाओं से ऊपर उठेगा तभी वह मातृशक्तिकाली के स्वरूप को पहचानेगा।

स्वामी जी ज्ञानयोगी और अनासक्त कर्मयोगी थे किन्तु अपने ग्रन्थ 'राजयोग" में उन्होंने तांत्रिक शक्ति पूजकों के षट्चक्र का उल्लेख और समर्थन किया है। ये छः चक्र हैं—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा। इनके परे सहस्रार चक्र है जिसका ज्ञान उन ओजसम्पन्न योगियों को होता है जिनकी सुषुम्णा नाड़ी विशुद्ध और निर्बन्ध होती है। तांत्रिकों की भाँति स्वामी विवेकानन्द कुण्डलिनी शक्ति के जागरण में आस्था रखते थे।

कतिपय विदेशी आलोचक शक्ति पूजा का उपहास करते हैं। लिङ्गपूजन और योनि पूजन पर इनका आक्षेप हैं कि ये प्रजनेन्द्रिय के पूजन हैं और इसलिए दूषित हैं। यह सिद्ध करने के लिए कि योनिपूजन अंग विशेष का निन्दनीय पूजन है, पश्चिमी आलोचक यह भी कहते हैं कि कौड़ी और शंख, योनि के प्रतीक के रूप में कई स्थानों में पूजे जाते है। पश्चिमी आलोचकों और उनके भारतीय अन्धानुयायियों का यह भी कथन है कि शिव-शक्ति की पूजा अनार्यों अथवा द्रविड़ों में प्रचलित थी और उन्हीं से आर्यों द्वारा अपनायी गयी। स्वामी विवेकानन्दजी समस्त हिन्दू जनता के माने हुए आचार्य थे और इन आक्षेपों का उन्होंने जोरदार उत्तर दिया। पेरिस में जो सन् १९०० ई० में विश्व धर्म सम्मेलन

हुआ था वहाँ पाश्चात्य विद्याविशारदों को ललकारते हुए उन्होंने बताया कि लिंग पूजन, प्रजनेन्द्रिय का उपहासास्पद पूजन न होकर यज्ञ स्तम्भ का पूजन है। उस सम्मेलन में जर्मन प्राच्यविद्याविद् गुस्ताभ ओपर्ट ने कहा था कि शालग्राम की पूजा स्त्री के उत्पादन-अंग का पूजन है। स्वामी विवेकानन्द ने अथर्ववेद का हवाला दिया जहाँ स्तम्भ या एकम्भ को ब्रह्मस्थानीय माना गया है। अथर्ववेद के आशय को व्यक्त करने वाले प्रकरण लिंग पुराण में भी हैं। काली को अनार्यों की क्रूर, रक्तपिपासु देवी कहकर उपहास करने वाले ईसाइयों को स्वामीजी ने कड़ी फटकार दी और कहा कि भारतीय संस्कृति के प्रसार के क्रम में यही काली और उमा ईसा मसीह की माता कन्या मेरी के रूप में पूजित हो रही हैं।

आर्य और द्रविड़ के नस्ल या प्रजाति (रेस) सम्बन्धी अर्थ को न ग्रहण कर स्वामीजी समस्त हिन्दुओं को आर्य मानते थे, भले ही मैकडोनल, गफ और अन्यों को इससे सहमति न हो। ईसाइयों ने इस बात का जोरदार प्रचार किया कि उत्तरी भारत के हिन्दुओं के पूर्वज पश्चिमी एशिया या मध्य यूरोप से आये। इसमें उनकी राजनीतिक चाल थी क्योंकि इससे वे हिन्दुओं की राजनीतिक दृढ़ निष्ठा को शिथिल करना चाहते थे। जब पश्चिमी विचारक ऐसा मानते हैं कि समस्त मानवों का क्रमशः लंगूरों से ही विकास हुआ है तब उनकी दृष्टि में आर्य, द्राविड, कोल आदि के अन्तर का इतना आग्रह नहीं रहना चाहिए। अपने ग्रन्थ "प्राच्य और पाश्चात्य" में विवेकानन्द ने नस्ल की दृष्टि से समस्त हिन्दुओं को एक ही माना है। स्वामीजी के प्रयत्न की महत्ता तब विदित होती है जब आज के आलोचकों की तात्विक निरर्थकता को हम देखते हैं। आर्चिबाल्ड एडवर्ड गफ नामक विद्वान् ने अपने ग्रन्थ "फिलॉसफी ऑफ द उपनिषद्स" में लिख मारा कि ब्राह्मणों में आर्यों के अतिरिक्त मंगोल, तातारों और हबशीवत् (निग्रोयाड) लोगों का रक्त प्रवाहित हो रहा है। दक्षिण भारत में आर्य और द्राविड़ का पृथक्करण इतना घर कर गया है कि वे रक्तपात करने पर भी उतारू हैं। इस पृष्ठभूमि में स्वामीजी के कथन का वैशिष्ट्य हमारे ध्यान में आता है कि समस्त हिन्दू आर्य हैं और इनके प्राचीन ग्रन्थ इसी आशय की घोषणा करते हैं। विवेकानन्द की ऐसी मान्यता थी कि यूरोपीय लोग खशों के वंशज हैं। खश अशिक्षित आर्य कबीले को कहते हैं विवेकानन्द सर्वदा यह चाहते थे कि विदेशियों की आलोचनाओं और आक्रमणों से समस्त हिन्दू जाति का संगठन टूटने न पावे। वे दुःखवाद के आलिंगन के बदले आत्म विश्वास, आत्मनिर्भरता और 'स्वयमेव मृगेन्द्रता' के शक्तियोग के समर्थक थे। भौतिकवाद में रमण करने के बदले आध्यात्मिक वेदान्त की शिक्षाओं को व्यावहारिक रूप देने का उनका जोरदार प्रस्ताव था। सदियों से पीड़ित और अपमानित हिन्दुओं को शक्तियोग के महामंत्र से दीक्षित करना ही स्वामी जी की कविताओं और व्याख्यानों का उद्देश्य है। जब शक्तियोग की आराधना में हिन्दू जाति लगेगी तभी आपस के अनेक भेदकारी बंधन समाप्त होंगे और एक स्वस्थ राष्ट्र की स्थापना हो सकेगी।

वस्तुतः शक्तिपूजा का वामाचार, या कौलाचार से कोई सम्बन्ध नहीं है। शक्तिपूजा विशुद्धि का निर्मल मार्ग है। विवेकानन्दजी की ऐसी धारणा थी कि मूर लोगों ने स्पेन के ऊपर अपने राज्य काल में पश्चिमी सभ्यता में शक्तिपूजा का सूत्रपात किया। बाद में जब मूर लोगों ने शक्तिपूजा को छोड़ दिया तब उनका पतन हुआ। भारतीय संस्कृति में उमा, सीता, सावित्री और दमयन्ती आदि पूज्य नारियों को जो महत्तम स्थान दिया गया है वह यहाँ की देव-संस्कृति का आधारस्तम्भ रहा है। जब इस आदर्श की उपेक्षा हुई और विलासवाद का आरम्भ हुआ तब यह देश रसातल को पहुँचा। विराट् मातृशक्ति की व्यापकता को समझनेवाला व्यक्ति ही सत्य और धर्म की महिमा को जानकर दृढ़व्रत रह सकता है। धर्म को भोगवाद का अस्त्र बनाना वह कदापि नहीं सह सकता। जो सत्य, धर्म और शिव की उत्कृष्टता व्यक्त कर सके और सर्वविध अभय का संचार कर सके, वही सच्चा शक्तियोग है। इस शक्तियोग की साधना ही राष्ट्र धर्म और व्यापक मानव-धर्म है। ●

स्वामी अद्भुतानन्द

—सिद्धार्थ सव्यसाची

श्रीरामकृष्ण देव के संन्यासी शिष्यों में लाटू महाराज (स्वामी अद्भुतानन्द) को अन्य शिष्यों की अपेक्षा सबसे पहले श्रीठाकुर के सान्निध्यका सौभाग्य प्राप्त हुआ। तब उनकी किशोरावस्था ही थी और वे श्रीठाकुर के अनन्य गृही शिष्य श्री रामचन्द्र दत्त के घर सेवक का काम करते थे।

लाटू महाराज का नाम माता-पिता ने रक्तूराम रखा था। इनका जन्म बिहार राज्यान्तर्गत सारण जिले के किसी गाँव में अत्यन्त दीन परिवार में हुआ था। यह भी एक विलक्षण सौभाग्य की बात थी कि श्रीठाकुर के सोलह संन्यासी शिष्यों में एक मात्र लाटू महाराज ही बिहार के निवासी थे। इतना ही नहीं, जहाँ ठाकुर के अन्य शिष्य तो पढ़े लिखे एवं उच्च जाति के थे वहाँ एक मात्र लाटू महाराज ही ऐसे थे जो सर्वथा निरक्षर एवं गरेड़िया जैसी निम्न जाति में उत्पन्न थे लेकिन ठाकुरकी अहेतुकी कृपा उन पर भी वैसी ही हुई जैसी अन्य शिष्यों पर। सूर्य की किरण महल और झोपड़ी पर समान भाव से पड़ती है। वह भेद नहीं जानती। इसी प्रकार परम करुणामय श्रीठाकुर के प्रेम राज्य में विभेद कहाँ था !

दुर्भाग्यवश आजतक लोगों को श्रीलाटू महाराज की जन्म भूमि (जन्म—ग्राम) तथा जन्म-तिथि का ज्ञान नहीं हो सका है। हो भी कैसे ? रक्तूराम के माता-पिता तो उसके बचपन में ही चल बसे और बाल्यकाल में ही वह अनपढ़ भोला बालक अपने चाचा के साथ कलकत्ता आ गया जहाँ उसके चाचा किसी छोटे-मोटे व्यवसाय से अपना जीविकोपार्जन करने लगे। यहीं किशोरावस्था प्राप्त करते ही रक्तूराम को उसके चाचा ने श्रीराम चन्द्र दत्त के यहाँ घरेलू नौकर के रूप में लगा दिया ताकि वह स्वयं अपनी जीविका चलाने लगे।

रक्तूराम अत्यंत ही ईमानदार और विश्वासी नौकर साबित हुआ। पर वह उतना ही स्वाभिमानी और खरा बोलने वाला था। एक दिन श्री दत्त के एक मित्र ने जब रक्तूराम पर सन्देह करते हुए उससे पूछा कि बाजार में उसके कितने पैसे बनते हैं तो लाटू ने अपनी टूटी-फूटी बंगला में दो टूक कहा—'यह जान लीजिए श्रीमान् कि मैं नौकर हो सकता हूँ पर चोर नहीं।' रक्तूराम की स्पष्टवादिता से वह सज्जन कुछ क्षुब्ध भी हुए और उन्होंने श्रीदत्त से इसकी शिकायत भी की, पर रामचन्द्र दत्त अपने रक्तूराम को अधिक अच्छी तरह जानते थे और उन्होंने इस शिकायत पर कोई ध्यान नहीं दिया।

रक्तूराम के आने के पूर्व ही श्री रामचन्द्र दत्त श्रीठाकुर के सम्पर्क में आ चुके थे और प्रायः ही उनके आवास पर ईश्वर चर्चा हुआ करती थी। एक दिन रक्तूराम ने स्वामी को यह कहते सुना कि यदि कोई सच्ची लगन से ईश्वर को ढूंढ़े तो उसे निश्चय ही ईश्वर की प्राप्ति होगी। फिर किसी समय दत्त ने कहा कि अकेले में जाकर ईश्वर को रो-रोकर पुकारने से ईश्वर अवश्य दर्शन देते हैं। रक्तूराम ने श्रीठाकुर के ऐसे उपदेश अपने स्वामी से सुने और तत्काल ही उन्हें हृदयंगम कर लिया। इसके पश्चात् प्रायः ही रक्तूराम चादर ओढ़कर अकेले में रोया करता। घर की महिलाओं ने कितनी ही बार किशोर बालक को इस तरह अकेले में रोते हुए पाया और सोचा कि अवश्य ही उसे घर-गाँव की याद आती होगी। रक्तूराम ने कभी भी अपनी भावात्मक स्थिति से उन्हें अवगत नहीं किया

सच तो यह है कि जीवन पर्यन्त अपनी मानसिक या आध्यात्मिक स्थिति की चर्चा न करने की लाटू महाराज की आदत कायम रही। तभी तो आजतक उनकी जन्म तिथि या जन्म स्थान तक अज्ञात है।

रामचन्द्र से श्रीठाकुर की प्रायः चर्चा सुनकर लाटू की इच्छा उनके दर्शन की हुई और शीघ्र ही उन्हें ऐसा अवसर भी प्राप्त हुआ। दक्षिणेश्वर जाकर रक्तूराम अत्यंत आह्लादित हुआ। दूसरी बार श्रीठाकुर के भोजन के समय लाटू दक्षिणेश्वर पहुँचे। श्रीठाकुर ने उन्हें स्वयं अपने भोजन का अंश बरबस खिलाया और गंगा-जल लाकर पीने को दिया। लाटू ने पहले तो नाहीं की पर श्रीठाकुर के आग्रह को टाल न सके और प्रसाद स्वरुप पहली बार किसी अनजान जगह का पकाया हुआ अन्न ग्रहण किया।

शीघ्र ही लाटू श्रीठाकुर के लिए इतने बेचैन रहने लगे कि अपने स्वामी रामचन्द्र के यहाँ के कामों में अब वैसी दिलचस्पी नहीं रह गयी। हाँ कभी कभी श्रीठाकुर के निमित्त स्वामी की ओर से मिठाइयाँ दक्षिणेश्वर ले जाना होता तब वह काफी उत्साह दिखाते। रामचन्द्र के परिवार के सदस्यों ने लाटू की यह अन्यमनस्कता लक्ष्य की और इसका कारण भी समझते उन्हें देर न लगी। पर किसी ने इसके लिए उन्हें कुछ कहा नहीं।

सन् १८८० ई० में श्री ठाकुर अन्तिम बार दक्षिणेश्वर से अपनी पितृभूमि कामार पुकुर गये तो उनकी अनुपस्थिति में लाटू के मानसिक क्लेश का ठिकाना न था। बाद के वर्षों में उन्होंने स्वयं ही भक्तों को बताया, "तबके मेरे क्लेश की कल्पना तुमलोग नहीं कर सकते। दक्षिणेश्वर में श्रीठाकुर की अनुपस्थिति में मैं कभी उनके कमरे में जाता, कभी पंचवटी में, पर हर कुछ जैसे सूना था। दिल हल्का करने के लिए मैं घण्टों रोया करता। केवल मेरे स्वामी राम बाबू को ही मेरी भावनाओं की प्रतीति हो सकी होगी क्योंकि उन्होंने मेरी स्थिति देखकर एक दिन श्रीठाकुर की एक छवि मुझे रखने को दी।"

कामारपुकर से लौटने पर श्री रामकृष्ण ने रामचन्द्र से अपने निजी सेवक के रूप में काम करने के लिए लाटू को माँगा और तब से लाटू श्रीठाकुर की अहर्निश सेवा में उनकी महासमाधि पर्यन्त लगे रहे। एक तरह से कहा जा सकता है कि लाटू की आध्यात्मिक साधना बस गुरु की सेवा एवं उनकी आज्ञा का अक्षरशः पालन भर रही। एक बार श्री ठाकुर ने संध्या में सोने की आदत के लिए उन्हें मीठी झिड़की दी थी, 'यदि अभी सोया करोगे तब ध्यान कब होगा ?" बस, लाटू ने न केवल अपराह्न में वरन् रात्रि में भी सोना बिलकुल छोड़ दिया। जीवन पर्यन्त इन समयों में वे ध्यान किया करते और दिन में हल्की झपकी लेकर नींद पूरी करते। लाटू आजीवन अनपढ़ प्रगल्भ बने रहे। श्रीरामकृष्ण को तो स्वयं भी पढ़ने-लिखने से कुछ विशेष वास्ता नहीं रहा था। फिर भी प्रारम्भ में उन्होंने लाटू को अक्षरज्ञान कराने की चेष्टा की। पर इस दिशा में गुरु शिष्य की चेष्टा उन दिनों के मनोरंजन का साधन मात्र बनकर रह गयी क्योंकि बंगला के विशेष स्वर-प्रधान उच्चारण से अनभिज्ञ भोजपुरी प्रदेश के लाटू का बंगला बोलने का प्रयत्न अत्यंत हास्यास्पद हुआ करता था। अन्त में श्रीठाकुर ने यह चेष्टा छोड़ दी और लाटू को कहा कि तेरा इसी (श्रीठाकुर की सेवा) से होगा।

श्री ठाकुर के लीला संवरण के उपरान्त, उनके शिष्यों ने सन्यास ग्रहण किया और नया नाम लिया। लाटू को नरेन्द्र (स्वामी विवेकानन्द) ने अद्भुतानन्द नाम दिया। स्वामी अद्भुतानन्द ने १९२० ई० में महासमाधि ली। वे आजीवन किशोरावस्था के लाटू की तरह ही सरल और प्रगल्भ बने रहे। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि ईश्वरप्राप्ति के लिए स्पष्टवादी होना आवश्यक है। लाटू महाराज की स्पष्टवादिता अन्ततक बनी रही। एकबार बेलुड़ मठ के नियमों से घबड़ाकर लाटू वहाँ से यह कहकर भाग खड़े हुए कि मुझसे इतने नियम कानून नहीं चलेंगे तब स्वामी जी स्वयं दौड़कर उन्हें लौटा लाये और यह आश्वासन दिया कि समय पर जप, ध्यान, अध्ययन भोजन, शयन इत्यादिके

नियम उनके लिए नहीं होंगे। स्वामी विवेकानन्द कहा करते थे, "लाटू श्रीरामकृष्ण का सबसे बड़ा चमत्कार हैं। बिना किसी शिक्षा के मानों श्रीठाकुर के स्पर्श मात्र से ही उसे सर्वोच्च ज्ञान प्राप्त हो गया।" स्वामी जी से लाटू महाराज के सम्बन्ध अत्यन्त मधुर थे और प्रेमवश लाटू महाराज उन्हें नोरे नया लोरेन कहा करते थे। स्वामीजी भी उन्हें सस्नेह लाटू, लेटो या कभी-कभी विलक्षण ज्ञान की उनकी बातें सुनकर, प्लेटो कह-कर पुकारते थे। स्वामीजी के प्रवास के उपरान्त पहली बार स्वदेश आने पर, सारे देश में, विशेषकर कलकत्ता में उनके स्वागत की बड़ी तैयारियाँ हुई थीं और उनके सभी गुरुभाई बड़े उत्साह से उनमें लगे थे। पर लाटू महाराज इन तैयारियों में न रहे और न स्वामीजी के आने पर उनकी अगवानी में गये। वे गंगा किनारे जप ध्यान में लगे रहे, "कौन जाने लोरेन इतने पढ़े-लिखे लोगों के बीच इतना नाम कमा कर लौटा है। मुझ अनपढ को पहचान पाएगा या नहीं।" कल-कत्ता आते ही स्वामी जी ने लाटू को खोजा और स्वयं गंगातट पर उनसे मिलने गये। लाटू और लोरेन उतने ही पूर्व परिचित स्नेह [illegible] मिले।

भक्तों को लाटू महाराज कहा करते 'ईश्वर को तुमने नहीं देखा है तो चिन्ता नहीं। तुम्ह इनके नाम तो मालूम हैं। जब किसी दफ्तर में जाते हो तो क्या करते हो? अपनी अर्जी बड़े बाबू के नाम लिखकर भेज देते हो, यद्यपि तुमने बड़े बाबू को कभी देखा नहीं है, केवल उनका नाम-भर जानते हो। बस, वैसे ही, ईश्वर के नाम अपनी अर्जी भेजो। इसीसे उनका अनु-ग्रह प्राप्त होगा।" जप की तरह ही गुरु सेवा पर भी लाटू महाराज को वैसा ही अप्रतिम विश्वास था। एक भक्त के यह पूछने पर कि श्री ठाकुर की देखभाल में दिन-रात लगे रहकर जप-ध्यान के लिए उन्हें समय कैसे मिल पाता था लाटू महाराज ने कहा, "श्री ठाकुर की सेवा ही हमलोगों की सबसे बड़ी पूजा और सर्वोच्च ध्यान थी।"

श्री माँ श्रीसारदामणि देवी—श्री ठाकुर की लीला सहधर्मिणी-से लाटू महाराज के सम्बन्ध उतने ही अनौ-पचारिक एवं मधुर थे जितना किसी माता और पुत्र में हो सकता है। श्री माँ स्वभावतः लज्जाशील थीं और प्रारम्भ में काफी दिनों तक श्री ठाकुर के अन्तरंग शिष्यों के सामने भी पर्दा रखती थीं। लाटू के लिए यह नियम न रहा। एक दिन लाटू गंगा किनारे चुप बैठे थे तो श्री ठाकुर ने देखकर कहा, "अरे लेटो तू यहाँ बैठा है और उधर (श्री माँ को लक्ष्य कर) नह-बत में रोटी वेल रही हैं।" फिर लाटू को स्वयं श्रीमाँ के निकट लाकर उन्होंने कहा "यह लड़का अत्यन्त पवित्र और शुद्ध सत्व है। इससे जब भी आवश्यक हो आप काम ले सकती हैं।" तब से लाटू रसोई तथा घर के अन्य कामों में श्रीमाँ की सहायता करने लगे। इस प्रसंग में बाद में लाटू महाराज भक्तों को कहा करते "हमारा बड़ा भाग्य था जो हम श्रीमाँ के पास गए थे। मैंने उनकी क्या सेवा की, वही हम सब को प्रेम में बाँधे हुई थीं।"

लाटू महराज की बच्चों-सी सरलता श्रीमाँ के साथ उनके व्यवहार में और भी निखर आती थी। एक बार, सन् १९०७ ई० में श्रीमाँ जयरामबाटी से आकर बलराम मन्दिर में एक मास रही थीं। तब लाटू महाराज भी वहीं थे। एक दिन बाहर लाटू से कुशल पूछने श्रीमाँ बाहर निकलीं तो संन्यासी सन्तान ने अधिकार पूर्ण शब्दों में कहा, "तुम भद्र घर की महिला होकर बाहर ड्योढ़ी में मुझसे मिलने क्यों आई हो? मुझे ही बुला लेतीं, मैं आ जाता।" लाटू महाराज की बातें सुनकर श्रीमाँ हँसते-हँसते ऊपर चली गई और बाद में भी कई बार प्रेमवश इस घटना का उल्लेख वह किया करती थीं। उन्हीं दिनों श्री माँ को जब जयरामबाटी लौटना था तो लाटू महाराज स्वयं को विदा के लिए तैयार करने के लिए स्वगत ही जोर-जोर से बोलकर कमरे में टहलते हुए विचार कर रहे थे—'संन्यासी की कौन माता और कैसे पिता! संन्यासी निर्माया!!' इसी बीच श्रीमाँ जाने के लिए नीचे उतरीं और लाटू महाराज को पुकार कर बोलीं—"बाबा लाटू, मुझे विदा नहीं

श्रीसारदा देवी

स्वामी वेदान्तानन्द

प्रथम अध्याय

पितृ परिचय

बंगला सन् १२७१ साल (सन् १८६४ ई०) की कथा है। वह बंगाल के बड़े दुर्दिन का वर्ष था। कहीं नदियों में बाढ़, कहीं सूखा से दुर्भिक्ष का हाहाकार। बाँकुड़ा जिले में फसल नहीं हुई थी। वहाँ के लोग अन्न-भाव से हाहाकार करते हुए मर रहे थे।

बाँकुड़ा जिला की दक्षिण-पूर्व सीमा पर जयरामबाटी नामक एक छोटा-सा गाँव है। गाँव की उत्तर दिशा में बाड़ा देकर बहती रहती है आमोदर नदी। अधिक चौड़ी या गहरी नहीं होने पर भी उसमें बारहो महीने जल पाया जाता है। किन्तु अनावृष्टि के कारण आज उसका भी जल सूख गया है। जिस जयरामबाटी गाँव के चारो ओर खेतों की विभिन्न फसलें बारहो महीने हरी-भरी रहती थीं, उस गाँव में भी दुर्भिक्ष की काली छाया दिखाई पड़ती है।

इस गाँव में रामचन्द्र मुखोपाध्याय नामक एक गरीब राममक्त ब्राह्मण का निवास था। कुछ बीघे साधारण देवोत्तर सम्पत्ति, कई एक घर यजमान एवं रूई से सूत काटकर जनेऊ की बिक्री—इन सबसे जो आय होती उनसे उस समय के ब्राह्मण की सीधी-सादी जीवन-यात्रा एक प्रकार से स्वच्छन्द रूप से चली जाती थी। केवल अपना पेट भरने के लिए ही वे नहीं खाते थे बल्कि किसी भिखारी या अतिथि को भी वे विमुख नहीं करते थे। देश का यह दुर्दिन देखकर वे सोचते हैं, भगवान की कृपा से मुझे जो धान हुआ है उससे किसी प्रकार यह वर्ष कट जायगा—और गत वर्ष का भी कुछ धान घर में मौजूद है। घर में अन्न के रहते भूखों का हाहाकार देख कर क्या करें? जितने दिनों तक संभव था वे रोज कई व्यक्तियों को भोजन दे देते। भगवान की इच्छा से फिर जो होना होगा, हो। इसी भासेव उन्होंने अपने सांसारिक खर्चे को जहाँ तक संभव हुआ कम कर दिया। उनके परिवार के सदस्यों के लिए जिस परिमाण की आवश्यकता थी उसके अतिरिक्त और भी कई हाँड़ी केलाव की दाल की खिचड़ी रोज दोपहर को पकाने की व्यवस्था हुई। घर के सब लोग यही खिचड़ी खाते, और जो लोग खाने के लिए उपस्थित नहीं हो पाते उनके बीच यह खिचड़ी बाँट दी जाती। ब्राह्मणी श्यामा सुन्दरी भी अपने पति से किसी मात्रा में कम नहीं थीं। भोजन नहीं पाने से लोगों को जो कष्ट होता उसे देखकर उनके भी प्राण गल गये। अतएव, दोनों व्यक्ति एकमत हो क्षुधा-कातर लोगों की सेवा करने लगे। उनकी ग्यारह वर्षीया बड़ी पुत्री सारदा भी अपने माता-पिता की सहायता करने में आनन्द पातीं। भूखे लोगों का कष्ट देखकर उनके कोमल प्राण रोने लगते। हाँड़ी से खिचड़ी निकालने पर जल्दी वह ठंढ़ी हो जाय इसके लिए वे दोनों हाथों से खिचड़ी के ऊपर जोर-जोर से पंखा झलतीं।

रामचन्द्र मुखोपाध्याय विशेष लिखना-पढ़ना नहीं जानते थे और श्यामा सुन्दरी को तो, लगता है, कभी अक्षरों का परिचय ही नहीं हुआ। लेकिन इससे क्या आता जाता है! सत्य, दया, सरलता आदि जिन सब गुणों के रहने से मनुष्य वस्तुतः मनुष्य गिना जाता है, वे सब गुण उन दोनों व्यक्तियों में यथेष्ट मात्रा में थे। रामचन्द्र थे अत्यधिक भक्त, दयालु, निष्ठावान, निश्छल एवं अत्यंत सरल। जिस-तिसका दान वे ले नहीं पाते थे। किसी आदमी को अपने सदर दरवाजे से जाते देखते ही वे उसको पुकार कर कहते थे, "आओ भाई, एक चिलम तम्बाकू पीते जाओ!" श्यामा-सुन्दरी भी

(शेष पृष्ठ ३० पर)

स्वामी अभेदानन्द के पत्र

४० बीडन स्ट्रीट, कलकत्ता
२० मई, १९२६

प्रिय गणेश,

तुम्हारा पत्र यथा समय मिल गया। भवानी बहन सकुशल हैं, जानकर प्रसन्नता हुई। आगामी २५ मई को मैं कालीदास एवं चण्डी के साथ दार्जिलिंग के लिए रवाना होऊँगा। स्टेशनपर हमारी प्रतीक्षा अवश्य करना।

कल दिलीप राय, द्विजेन्द्र लाल राय के सुपुत्र, आए थे। वह मुझसे योग सीखना चाहते हैं। मैंने इनसे कहा कि उन्हें योग सिखला कर मुझे प्रसन्नता होगी। पर ऐसा मेरे दार्जिलिंग से लौटने पर ही सम्भव है।

तुम्हारे प्रश्नों के उत्तर मैं दे रहा हूँ। वहाँ पहुँचने पर और जो कुछ भी जानना चाहोगे, बताऊँगा—

(१) ईश्वर की अनुभूति शुद्ध मन के बिना सम्भव नहीं। मन को शुद्ध करने के लिए जप एवं ध्यान आवश्यक हैं। मन के शुद्धिकरण का मूल सिद्धान्त है बुरे विचारों को मन में आने से रोकना।

(२) सब कुछ मन में है। बन्धन मन में है, मुक्ति भी मन में है। ब्रह्म मन और वचन के परे हैं। पर शुद्ध मन के लिए वह गोचर है।

(३) इष्ट में किसी एक भाव का आवेश करना होता है जैसे सखा, पुत्र, पत्नी, माता इत्यादिका। मातृ-भाव अत्यन्त शुद्ध है। इससे मन अनायास ही शुद्ध हो जाता है और तब इष्ट के दर्शन हो सकते हैं। माँ से हाथजोर कर विनती की जा सकती है जैसा कि रामप्रसाद (++) तथा हमारे ठाकुर किया करते थे। रामप्रसाद का भाव था "माँ, तूने यदि दर्शन नहीं दिए तो मैं तेरे गले का मुण्ड-माल छीन लूँगा।" ऐसी अधिकार पूर्ण विनती की आवश्यकता है तभी तो, माँ ने इन्हें दर्शन दिये। ठाकुर का समान भाव था "माँ, मेरे सामने आओ। क्या मैं संसार से बाहर हूँ? मैंने साधन-भजन नहीं किए पर तुम तो दया से भरी हो। तुमने रामप्रसाद को दर्शन दिए थे, क्या मेरे सामने न आओगी? यदि तुम न आयी तो मैं इसी खड्ग से अपना मस्तक काट डालूँगा। इस अर्थहीन जीवन का अन्त कर देना ही उचित है।" माँ ने ठाकुर को भी दर्शन दिये। ऐसे ही आवेश की आवश्यकता है।

(४) ईश्वर का नाम लेने के लिए किसी स्थान या समय विशेष की आवश्यकता नहीं। उन्हें हर समय याद करना चाहिए, हर समय उनकी बातें सोचनी चाहिए। एक जगह रामप्रासद ने कहा है-

"जब बिस्तरपर लेटो तो सोचो
माँ को साष्टाँग प्रणाम कर रहे हो।
जब सोओ तो माँ का ध्यान करो।
जब खाओ तो सोचो
श्यामा माँ को नैवेद्य चढ़ा रहे हो।

(५) यदि गीता, भागवत, कथामृत (★) एवं विवेक चूड़ामणि पढ़ी जाय और उनमें दिये गये निर्देशों का पालन किया जाय तो सारे प्रश्न स्वयमेव उत्तरित हो जाते हैं। मेरा स्वास्थ्य ठीक है। समिति के सारे सदस्य सकुशल हैं। मेरा प्रेम और आशीष ग्रहण करो।

तुम्हारा—अभेदानन्द

(++) रामप्रसाद बंगाल के विख्यात भक्त कवि एवं साधक थे जिन्हें श्रीठाकुर की तरह ही, माँ काली के दर्शन हुए थे। श्रीठाकुर को रामप्रसाद के भक्तिगीत अत्यंत पसन्द थे और वे स्वयं भी अलौकिक मधुर स्वरसे उनके गीत प्रायः गाया करते थे। (—अनु०)

(★) श्रीरामकृष्ण कथामृत श्री ठाकुर के अनन्य भक्त श्री महेन्द्रनाथ गुप्त द्वारा लिखित उनके उपदेशों का संग्रह है। हिन्दी में यहश्री रामकृष्ण वचनामृत नाम से प्रकाशित है। (—अनु०)

करेगा।" फिर क्या था! स्नेह के सहज प्रवाह में वेदान्त का बांध बह गया और लाटू महाराज श्री माँ के चरणों पर सिर रख रोने लगे। फिर श्री माँ भी रोने लगीं। श्री माँ को रोते देख लाटू महाराज ने अपनी चादर से उनके आँसू पोंछ डाले और कहा—"माँ, मायके जा रही हो। अभी रोना नहीं।',

लाटू महाराज में सहनशीलता भी काफी थी। एक दिन कोई शराबी उनके निकट आकर उन्हें गाली देने लगा। इससे क्रुद्ध होकर कुछ भक्त उसे मारने-पीटने को खड़े हो गए। यह देखकर लाटू महाराज ने उन-लोगों से कहा—'देखो यह तो शराब पीकर मतवाला हो गया है और मुझे गाली देता है लेकिन तुम लोग बिना शराब पिये उसको गाली देते हो और मारना चाहते हो, तो कहो सजा किसे मिलनी चाहिए? फिर उसको तुमलोग और क्या मारोगे! शराब ने ही उसे मार रखा है।"

लाटू महाराज सभी धर्मों के प्रति समान और आदर का भाव रखते थे। मुसलमानों को ईद और मुहर्रम के पवित्र त्योहार के अवसर पर वे पीर की दरगाह में पूजा भेजते थे। इसी प्रकार ईसाइयों के पवित्र पर्व क्रिसमस और गुड फ्राइडे के दिन वे अपने प्रिय ईसा मसीह को भोग-नैवेद्य अर्पित करते थे और उन्हें माला पहनाया करते थे। एक दिन डिमेलो नामक एक ईसाई भक्त ने ध्यान-साधना के सम्बन्ध में उनसे उपदेश देने की प्रार्थना की। लाटू महाराज के पूछने पर कि वे किनको सबसे ज्यादा प्रेम करते हैं जब उन्होंने कहा—ईसु और श्री ठाकुर दोनों को। तब लाटू महाराज ने पूछा—'बराबर किसको प्रेम करते रहे हो!' डिमेलो ने कहा—'ईसु को।' लाटू महाराज ने तुरत कहा—'देखो, तब ईसु को ही पकड़ रखो।'

लाटू महाराज कहा करते थे—"सत्संग की ऐसी महिमा है कि कीड़ा-मकोड़ा भी फूल के सद्गुण से भगवान् के चरण पर पहुँच जाता है। ठीक उसी प्रकार साधुओं की संगति के गुण से मनुष्य को भगवान की प्राप्ति हो जाती है। भगवान की प्राप्ति का क्या अर्थ है? —आनन्द की प्राप्ति। भगवान् सच्चिदानन्द हैं।

"सुख-दुख, अच्छा-बुरा सबकुछ भगवान् के ऊपर अर्पण करने से कर्म फल और बन्धनों का भय नहीं रहेगा। इतना ही नहीं अपने को भी उनके चरणों में अर्पण कर देना चाहिए। निरन्तर अभ्यास और साधन-भजन नहीं करने से ऐसी उपलब्धि नहीं होगी। साधु दस्यु रत्नाकर को अपने कन्धे पर बिठाकर साधन की राह पर नहीं ले गये थे। रत्नाकर अपनी ही कठोर साधना के बल पर महर्षि वाल्मीकि हो गये थे।

"चेष्टा करने से असंभव भी संभव होता है और यदि चेष्टा से कोई कार्य सिद्ध न हो तो समझना चाहिए कि चेष्टा में सच्चाई और कुशलता की कमी है। भूल-चूक सुधार कर फिर से कर्म में लग जाओ। लक्ष्य महान् होने से भगवान् स्वयं तुम्हारे साथ काम में हाथ बटाएँगे। चेष्टा कभी नहीं छोड़नी चाहिए।"

लाटू महाराज ने ऐसे कितने ही महत्वपूर्ण उपदेश दिये हैं जिनका मनन-चिन्तन करने से साधकों का कल्याण हो सकता है। लाटू महाराज की आध्यात्मिक उच्चता पर विचार कर स्वामी विवेकानन्द ने कहा था—"जिस अवस्था से आकर थोड़े ही दिनों में लाटू ने आध्यात्मिक क्षेत्र में जितनी उन्नति प्राप्त की है और हमलोगों ने जिस अवस्था से आकर उन्नति प्राप्त की है, दोनों पर तुलनात्मक विचार करने से साफ साफ मालूम होगा कि लाटू हमलोगों से कितना बड़ा है। हमलोग शिक्षित और अच्छे घर के लड़के थे और लाटू गरीब लड़का तथा निरक्षर था। हमलोगों को ध्यान-धारणा, जप आदि जब अच्छा नहीं लगता था तो शास्त्र आदि पढ़ लिया करते थे लेकिन लाटू का कोई दूसरा सहारा नहीं था। केवल ध्यान-धारणा जप के सहारे ही लाटू अपना मस्तिष्क ठीक रखकर बहुत नीची अवस्था से सबसे उच्चतम आध्यात्मिक सम्पदा का अधिकारी हुआ है। उससे उसकी अपनी अन्तर्निहित शक्ति और उस पर श्री ठाकुर की अशेष कृपा का परिचय मिलता है।"

२४ अप्रील १९२० ई० के अपराह्न १२ बजकर १० मिनट पर काशी में श्रीरामकृष्ण के अनन्य भक्त और महान् साधक लाटू महाराज (स्वामी अद्भुतानन्द जी) महासमाधि में लीन हो गये। परन्तु उनकी अद्भुत आस्था एवं विलक्षण साधना की कथा आनेवाली कितनी ही पीढ़ियों के लिए साधना-पथ का पाथेय बन गयी है।

(२)

रामकृष्ण वेदान्त आश्रम,
दार्जिलिंग
मई ११, १९२८

प्रिय गणेश,

तुम्हारा पत्र मिला। अपने पिता के निधन पर शोक करने के बदले तुमने ठाकुर से उनकी आत्मा की शान्ति के लिए प्रार्थना की है, यह सर्वथा एक ज्ञानी सदृश कार्य है। साधारणतः ऐसे में लोग शोकाकुल हो उठते हैं और उन्हें मानसिक शान्ति नहीं मिलती। मैं सर्वदा ठाकुर से तुम्हारे पिता की दिवंगत आत्मा के मंगलार्थ प्रार्थना करता हूँ।

शोक एक भयंकर चीज है। इसके प्रमाण में मनुष्य विवेक खो देता है। गीता सुनकर एवं भगवान के विश्व-रूप के दर्शन करके भी अर्जुन अपने पुत्र अभिमन्यु की मृत्यु से सन्तप्त हो गये थे। हमने ठाकुर से सुना है कि केशव बाबू की मृत्यु का समाचार सुन वे इतने अभिभूत हो गये थे कि तीन दिनों तक बिस्तर नहीं छोड़ पाये और उन्हे ऐसा लगता था मानों शरीर का कोई अंग पक्षाघात से ग्रस्त हो गया हो। अहा! ठाकुर की केशव बाबू के लिए कितनी प्रीति थी। तुम्हारी माँ पति के देहान्त से शोक सन्तप्त हैं। तुम्हें उन्हें अच्छी पुस्तकें पढ़कर सुनानी चाहिए। इससे उन्हें सान्त्वना मिलेगी।

हमने देखा है कि ठाकुर के पास जब कोई शोकाकुल व्यक्ति आता था तो उनकी आँखों में भी आँसू आ जाते थे। ऐसे में ठाकुर उन्हें कभी नहीं कहते थे कि ब्रह्म ही सत्य है और संसार मिथ्या है या यह कि मानव शरीर की यही नियति है। वे भक्ति विषयक चर्चा कर या भक्तिमूलक गीत गाकर उस व्यक्ति को सान्त्वना देने की चेष्टा करते थे। अपने इस व्यवहार से ठाकुर लोगों के अत्यन्त प्रिय हो गये थे और सभी समझते मानों ठाकुर उन्हीं में से एक हों। इससे उनका शोक सन्तप्त मन भी शान्त हो जाता था।

काशीपुर उद्यान में ठाकुर के महाप्रयाण से हम सब अत्यन्त व्याकुल हो गये थे। स्वामीजी तो शोकाकुल हो गंगा में शरीर त्याग करने तक को तैयार थे। कुछ दिन तक श्री माँ ऊँचे स्वर में विलाप करती रहीं "माँ, तुम कहाँ चली गयी? कहाँ चली गयी माँ तुम?" फिर एक दिन ठाकुर श्रीमाँ के समक्ष प्रकट होकर बोले "तुम क्यों रो रही हो? यह देखो मैं तुम्हारे निकट हूँ, इस कमरे से उस कमरे में चला गया हूँ, बस।"

तुम्हारी नौकरी का क्या हुआ? नदिया के महाराजा से क्या तुम मिले? मुझे पूर्ण विवरण देना। तुम्हारा मन शान्त रहे और तुम किसी भी खतरे से मुक्त रहो, ठाकुर को मेरी यह एकमात्र प्रार्थना है। तुम्हारे लिए चिन्तित हूँ, सुविधानुसार मुझे पत्र देने की चेष्टा करना। मेरा प्रेम एवं आशीष ग्रहण करो।

तुम्हारा—
अभेदानन्द

(पृष्ठ २८ का शेषांश)

थीं अति सरल एवं दयालु। दूसरों की सेवा या उपकार करने में उन्हें बड़ा आनन्द मिलता था। लोगों को भोजन कराने एवं उद्योग करने में उनकी बड़ी प्रीति थी। ये सब गुण उनमें थे, इसीसे ऐसा प्रतीत होता है कि श्री सारदा देवी जैसी बालिका को उन्होंने पुत्री के रूप में प्राप्त किया था। सारदा देवी के जीवन और शिक्षा की कहानी की थोड़ी विवेचना करने पर हमलोग जान पायेंगे कि उनकी जैसी कन्या तो इस संसार में जहाँ-तहाँ और जब-तब जन्म नहीं लेती हैं। उनकी जैसी पुत्री के माँ-बाप होना क्या कम भाग्य की बात है।

★

श्रीरामकृष्ण-जन्मोत्सव

श्रीरामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना

भगवान श्री रामकृष्ण देव का १४७ वाँ शुभ जन्मोत्सव २५ फरवरी से श्री रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना में सोल्लास एवं भक्ति पूर्वक मनाया गया। एकादश दिवसीय इस उत्सव में विभिन्न जीवंत और आकर्षक कार्यक्रम प्रस्तुत किये गये।

२५ फरवरी,' ८२ को उषाकालीन मंगलारती, वेद-पाठ, भजन, श्रीरामकृष्ण कथा आदि के उपरान्त दिन में पुष्पांजलि, भोग-निवेदन एवं होम का आयोजन हुआ। संध्यारती के पश्चात श्री सुधीर कुमार चौधरी द्वारा रामायण-संगीत का अत्यन्त मोहक कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया। २६ फरवरी को भी रामायण-संगीत का आयोजन हुआ।

२७ फरवरी को 'विद्यार्थी-दिवस' के रूप में मनाया गया जिसमें एक जीवंत एवं आकर्षक जन-सभा का आयोजन हुआ। राँची विश्वविद्यालय के भूतपूर्व कुलपति डॉ० एन० एल० नड्डा मुख्य अतिथि थे। रामकृष्ण मिशन सेवा प्रतिष्ठान, कलकत्ता के श्रीमत स्वामी भवहरानन्द जी ने सभा की अध्यक्षता की। श्रीमत स्वामी वेदान्तानन्द जी महाराज, सचिव, रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना ने अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करते हुए कहा कि इस वर्ष आयोजित विभिन्न प्रतियोगिताओं में विभिन्न विद्यालयों और महाविद्यालयों के कुल ११३ छात्र और ७० छात्राओं ने भाग लिया। सेंट जोसेफस कॉन्वेन्ट हाई स्कूल, पटना की छात्रा कुमारी चन्द्रकान्ता प्रभा, सेंट माइकेल्स हाई स्कूल, पटना के छात्र श्री शान्तनु श्रीवास्तव, रवीन्द्र बालिका विद्यालय, पटना की छात्रा कुमारी पूनम शर्मा, पटना कॉलेज के छात्र श्री अमितभ रंजन और पटना साइंस कॉलेज के छात्र श्री अरविन्द मिश्र क्रमशः ए, बी, सी, डी, और ई० के चैम्पियन घोषित हुए। कुल १४० छात्र-छात्राओं को पुरस्कार प्रदान किये गये।

इस अवसर पर श्रीनड्डा ने इस सभा में छात्रों द्वारा प्रदर्शित अनुशासन और आत्म-संयम की प्रचुर प्रशंसा करते हुए कहा कि इससे छात्रों के प्रति मेरे मन में बसी निराशा की धारणा दूर हुई है और देश के मंगलमय ज्योतित भविष्य की आशा बँधी है। उन्होंने छात्रों से अपने जीवन में श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द जी के विचारों को उतारने का आग्रह किया। श्रीमत स्वामी भवहरानन्द जी ने अपने संक्षिप्त भाषण में बताया कि स्वामी विवेकानन्द ने युवकों को एक ही संदेश दिया है—'बनो और बनाओ'—जो मंत्र की तरह है। स्वामी विवेकानन्द यह कहते हुए कभी थकते नहीं थे कि मनुष्य को सत्य, त्याग और सेवा की आधारशिला पर अपने चरित्र का अवश्य निर्माण करना चाहिए और तभी समाज, देश और विश्व के लिए सच्चे और समर्पित भाव से सेवा के लिए तत्पर रहना चाहिए।

इस सभा का संचालन ब्रह्मचारी वरद चैतन्य और प्रो० बी० डे० ने बड़ी कुशलता पूर्वक किया।

२८ फरवरी की जन-सभा की अध्यक्षता की सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधीश श्री नन्दलाल उंटवालिया ने। मुख्य वक्ता थे स्वामी भवहरानन्द जी। उन्होंने 'वर्त्तमान युग में श्रीरामकृष्ण के उपदेशों की प्रासंगिकता' पर प्रकाश डालते हुए कहा कि श्रीरामकृष्ण ने सत्य को कलियुग की तपस्या कहकर उसके पालन पर जोर दिया। फिर 'यतो मत ततो पथ' कहकर सभी धर्मों के प्रति

आदर का भाव रखना सिखाया और जीवों की सेवा ईश्वर के रूप में करने का उपदेश दिया। कहना नहीं होगा कि ये उपदेश आधुनिक व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्व के लिए कितने उपयोगी और मंगलदायी हैं।

१ मार्च को हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार डॉ० उमेश 'मधुकर' की अध्यक्षता में सभा हुई। इस सभा के भी प्रमुख वक्ता थे स्वामी भवहरानन्द जी। उन्होंने 'श्रीरामकृष्ण वाणी के व्याख्याता स्वामी विवेकानन्द' विषय पर बड़ा ही सारगर्भ और विचारोत्तेजक व्याख्यान दिया।

२ मार्च से ७ मार्च के प्रातः काल तक रायपुर (मध्यप्रदेश) रामकृष्ण मिशन के अध्यक्ष श्रीमत स्वामी आत्मानन्द जी महाराज ने रामचरित मानस के आधार पर 'परम संत हनुमंत' विषय पर बड़े गंभीर, विद्वत्ता-पूर्ण एवं प्रभावकारी प्रवचन देकर स्रोताओं में भक्ति की लहर उत्पन्न कर दी। उन्होंने कहा कि संत तुलसीदास के रामचरित मानस का बड़ा ही गंभीर आध्यात्मिक महत्व है। श्रीरामचन्द्र के जीवन और कार्यों के अध्ययन के दो दृष्टिकोण हैं—ऐतिहासिक और भावात्मक। महर्षि वाल्मीकि ने ऐतिहासिक दृष्टि से रामायण की रचना की और गोस्वामी तुलसीदास ने अपने रामचरित मानस का भावात्मक दृष्टिकोण से प्रणयन किया। इसलिए रामचरित मानस का अध्ययन तुलसीदास के दृष्टिकोण से ही करना होगा। इस संदर्भ में राम, लक्ष्मण, सीता और हनुमान के आध्यात्मिक महत्व का बड़े रोचक ढंग से विद्वान एवं महान साधक स्वामी आत्मानन्द जी ने विवेचन-विश्लेषण किया। वस्तुतः अमरकृति रामचरित मानस का स्वामी आत्मानन्द जी द्वारा प्रस्तुत आध्यात्मिक विवेचन श्रवण एवं मनन के योग्य था।

७ मार्च की संध्या को स्वामी आत्मानन्द जी ने 'अवतार वरिष्ठ श्रीरामकृष्ण' विषय पर २ घंटों के अपने प्रवचन में प्रमाणित किया कि श्रीरामकृष्ण राम और कृष्ण के सम्मिलित अवतार थे और वह भी अद्वैत की दृष्टि से नहीं बल्कि प्रत्यक्ष रूप से। अपने कथ्य को उन्होंने अनेक युक्तियों से सिद्ध किया और स्वामी विवेकानन्द द्वारा रचित प्रणाम मंत्र को काव्य नहीं, भावावेश नहीं बल्कि परम सत्य-दर्शन की छंदमय अभिव्यक्ति की संज्ञा दी।

श्रीरामकृष्ण सेवाश्रम, मुजफ्फरपुर

श्रीरामकृष्ण सेवाश्रम, मुजफ्फरपुर में २५ फरवरी को श्रीरामकृष्ण की पूजा-आरती के उपरान्त दरिद्र-नारायण का भोज किया गया। २८ फरवरी को जन-सभा का आयोजन स्थानीय अधिवक्ता श्री शिवसती प्रसाद की अध्यक्षता में किया गया। सभा का उदघाटन किया श्री राजमंगल शर्मा, वरीय अधिवक्ता ने। डॉ० केदारनाथ लाभ मुख्य वक्ता थे। अन्य वक्ताओं में तिरहुत प्रमंडल के आयुक्त श्री दत्त एवं प्रो० श्रीमती भुवनेश्वरी देवी उल्लेख्य हैं।

सेवाश्रम के अध्यक्ष श्री टंडन जी ने आगत-स्वागत और सचिव स्वामी असीमानन्द जी महाराज ने धन्यवाद ज्ञापन किया।

श्रीरामकृष्ण संघ, खगौल

कतिपय अनिवार्य कारणों से इस वर्ष श्रीरामकृष्ण जन्मोत्सव कुछ विलम्ब से २१ मार्च को मनाया गया। प्रातःकालीन पूजा-आरती के उपरान्त प्रसाद-वितरण और दरिद्रनारायण के भोज का कार्य सम्पन्न हुआ। सायं-कालीन जन-सभा के मुख्य अतिथि थे रामकृष्ण मिशन, पटना के सचिव श्रीमत स्वामी वेदान्तानन्द जी और मुख्य वक्ता थे राजेन्द्र कॉलेज, छपरा के हिन्दी विभाग के रीडर डॉ० केदारनाथ लाभ। स्वामी वेदान्तानन्द जी ने श्रीराम-कृष्ण के अवतारत्व, उनके उपदेश और उनकी आज की स्थिति में उपयोगिता पर बड़ा ही हृदयग्राही प्रवचन दिया। डॉ० लाभ ने विस्तार से बताया कि श्रीराम-कृष्ण में पूर्व के सभी अवतार नदियों की भाँति आकर मिलते हैं और उन्हें सागर की गरिमा प्रदान करते हैं। इस सागर में हर मत और विश्वास के लोग डुबकी लगा सकते हैं। डॉ० लाभ ने गृहस्थों और संसारी लोगों के लिए श्री ठाकुर द्वारा दिये गये उपदेशों पर भी प्रकाश डाला।

विवेक दीप : प्रतिक्रियाएं

(१)

आपकी भेजी हुई 'विवेकदीप' पत्रिका हमारी विवेकानन्द लाइब्रेरी के लिए प्राप्त हुई। हिन्दी भाषा में यह 'समन्वय' के बाद प्रथम मासिक पत्रिका है जो ठाकुर-स्वामीजी के भाव-प्रचारार्थ समर्पित है। यह देखकर बड़ा ही आनन्द हुआ। ठाकुर जी की आप पर कृपा बनी रहे, यही स्वामीजी से प्रार्थना है।

आपका सस्नेह,
स्वामी पुण्यानन्द
रामकृष्ण मिशन, विवेकानन्द स्मृति मंदिर,
गाजीपुर (राजस्थान)

(२)

प्रायः एक महीना पहले ही विवेकदीप मिला। खेद है, पहले नहीं मिल सका। हिन्दी में 'विवेकदीप' के प्रकाशन का आपका प्रयास प्रशंसनीय और समर्थन के योग्य है।

आपका
स्वामी अशोकानन्द
सचिव, श्रीरामकृष्ण विवेकानन्द सेवाश्रम
मुजफ्फरपुर

(३)

आपके द्वारा भेजी जानेवाली विवेकदीप पत्रिका यहाँ के व्यक्तियों को रुचिकर लगती है। आप हमें निःशुल्क पत्रिका भेजकर हमारी जो मदद करते हैं इस मदद के लिए आप हमारा हार्दिक धन्यवाद स्वीकार करें। आशा ही नहीं, बल्कि हमें पूरा विश्वास है कि आप भविष्य में हमारी इसी प्रकार मदद करते रहेंगे।

भवदीय
पुस्तकाध्यक्ष,
रामकृष्ण मिशन लाइब्रेरी,
विज्ञानानन्द मार्ग, मुट्ठीगंज, इलाहाबाद

(४)

विवेकदीप का प्रथमांक समय पर मिल गया। यदि इस सम्बन्ध में मैं प्रशंसा के दो शब्द लिखूँ तो भी वे कम ही होंगे। ऐसा पठनीय, सुसंपादित, व्यवस्थित, ज्ञान का विशद प्रकाश फैलानेवाला विवेकदीप पढ़ कर समस्त परिवार पर एक अमिट छाप छोड़ गया।

आपकी
आरती सिंह
पहाड़पुर, सारन।

(५)

विवेकदीप मिला। हिन्दी में 'कल्याण' के बाद ऐसी कोई दूसरी धार्मिक-आध्यात्मिक पत्रिका नहीं है। पढ़कर आह्लादित हुआ। इतनी सुन्दर स्वस्थ पत्रिका के प्रकाशन के लिए भूतशः बधाई।

डा० देवेन्द्र झा
अध्यक्ष, मैथिली विभाग, बिहार विश्वविद्यालय,
मुजफ्फरपुर।

विवेक वाणी

नया--धर्म

प्राचीन धर्मों ने कहा, "वह नास्तिक है, जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता।' नया धर्म कहता है, "नास्तिक वह है, जो स्वयं में विश्वास नहीं करता।' पर यह विश्वास केवल इस क्षुद्र 'मैं' को लेकर नहीं है। इस विश्वास का अर्थ है—सब के प्रति विश्वास, क्योंकि तुम सर्व-स्वरूप हो। आत्म-प्रीति का अर्थ है सब प्राणियों पर प्रीति —समस्त पशु-पक्षियों पर प्रीति, सब वस्तुओं पर प्रीति, क्यों कि तुम सब एक हो। यह महान् विश्वास ही संसार का सुधार करेगा।.....मानव-जाति के सम्पूर्ण इतिहास में महान् पुरुषों और स्त्रियों के जीवन में यदि सबसे बड़ी प्रवर्तक शक्ति कोई थी तो आत्म-विश्वास की ही शक्ति थी। जन्म से ही यह विश्वास रहने के कारण कि वे महान् होने के लिए ही पैदा हुए हैं, वे महान् बने।

झोपड़ियों में राष्ट्र

हमारा राष्ट्र झोपड़ियों में बसता है। वर्तमान समय में तुम्हारा कर्तव्य है कि तुम देश के एक भाग से दूसरे भाग में जाओ और गाँव-गाँव जाकर लोगों को समझाओ कि अब आलस्य के साथ बैठे रहने से काम नहीं चलेगा।.....उनके मन में जमा दो कि ब्राह्मणों के समान उनका भी धर्म पर वही अधिकार है। सभी को, चाण्डाल तक को भी, इन्हीं जाज्वल्यमान मन्त्रों का उपदेश दो।

—स्वामी विवेकानन्द

[श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर द्वारा प्रकाशित 'शिक्षा' से सानुमति—साभार]